

खंड

# 1

## प्रस्तावना

---

इकाई 1

राष्ट्र और राष्ट्रवाद

7

इकाई 2

उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन: एशिया और अफ्रीका

25

इकाई 3

भारतीय राष्ट्रवाद पर परिप्रेक्ष्य-1

38

इकाई 4

भारतीय राष्ट्रवाद पर परिप्रेक्ष्य-2

50

## विशेषज्ञ समिति

प्रो. मृदुला मुखर्जी  
प्रोफेसर, इतिहास  
सेंटर फॉर हिस्टॉरिकल  
स्टडीज, जे.एन.यू.  
नई दिल्ली

प्रो. आदित्य मुखर्जी  
प्रोफेसर, इतिहास  
सेंटर फॉर हिस्टॉरिकल  
स्टडीज, जे.एन.यू.  
नई दिल्ली

प्रो. अपर्णा बसु  
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास  
दिल्ली विश्वविद्यालय  
दिल्ली

प्रो. के.एल. टुटेजा  
पूर्व-प्रोफेसर, इतिहास  
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रो. सुचेता महाजन  
प्रोफेसर, इतिहास  
सेंटर फॉर हिस्टॉरिकल  
स्टडीज,  
जे.एन.यू., नई दिल्ली

प्रो. जी.पी. शर्मा  
इतिहास एवं संस्कृति विभाग  
जामिया मिलिया इस्लामिया  
नई दिल्ली

डॉ. विशालाक्षी मेनन  
जीसस एण्ड मेरी कॉलेज  
दिल्ली विश्वविद्यालय  
दिल्ली

प्रो. सलिल मिश्रा  
इतिहास विभाग  
अंबेडकर विश्वविद्यालय  
दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार  
इतिहास संकाय  
इग्नू नई दिल्ली

प्रो. रविन्द्र कुमार  
इतिहास संकाय  
इग्नू नई दिल्ली

प्रो. ए.आर.खान  
इतिहास संकाय  
इग्नू नई दिल्ली

प्रो. स्वराज बसु  
इतिहास संकाय  
इग्नू नई दिल्ली

प्रो. एस.बी. उपाध्याय  
(पाठ्यक्रम संयोजक)  
इतिहास संकाय  
इग्नू नई दिल्ली

\* इस पाठ्यक्रम की संकल्पना करने तथा प्रारंभ करने हेतु हम प्रो. सलिल मिश्रा के आभारी हैं।

## पाठ्यक्रम संयोजक

प्रो. एस.बी. उपाध्याय

## कार्यक्रम संयोजक

प्रो. स्वराज बसु

## खंड निर्माण दल

इकाई सं.	इकाई लेखक	इकाई सं.	इकाई लेखक	अनुवादक
इकाई 1	प्रो. सलिल मिश्रा इतिहास विभाग अंबेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली	इकाई 3-4	प्रो. एस.बी. उपाध्याय इतिहास संकाय इग्नू, नई दिल्ली	मित्ररंजन (इकाई 1-3) प्रो. गोपाल प्रधान (इकाई 4) हिन्दी विभाग अंबेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली
इकाई 2	डॉ. रोहित वान्चू सेंट स्टीफेन्स कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली			

## सामग्री निर्माण

श्री मंजीत सिंह  
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)  
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

जुलाई, 2016

© इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2016

ISBN-978-81-

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ एवं इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कम्प्यूटर, C-206, A.F.Enclave-II, नई दिल्ली

मुद्रक :

---

## पाठ्यक्रम परिचय

---

प्लासी के युद्ध के बाद भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की स्थापना उपमहाद्वीप में एक नये युग की शुरुआत थी। औपनिवेशिक शासन से पहले विपरीत परिस्थितियों में किसानों और गैर किसान समूहों को कुछ राहत प्रदान करने का चलन था लेकिन ब्रिटिश शासन को पहले से चली आ रही इन जनपक्षीय प्रशासनिक परंपराओं को जानबूझकर खारिज करने या उन्हें दरकिनार करने के लिए जाना जाता है। शुरुआती समय में औपनिवेशिक शासक लोगों से किसी-न-किसी रूप में पैसे की वसूली करने के लिए हर संभव तरीका अपनाते थे। इसने विपरीत परिस्थितियों से जूझने और तमाम मुष्किलों के बावजूद जीवन के संघर्ष में टिके रहने की ग्रामीण जनता की क्षमता पर बेहद प्रतिकूल प्रभाव डाला और उनकी जीवटता को भीषण गिरावट की तरफ ले गई। इस तरह से 1769 के बंगाल के भीषण अकाल के दौरान बड़ी संख्या में लोगों की मौतें हुईं। हालांकि औपनिवेशिक शासन ने 18वीं सदी के आखिरी दशक में भू-राजस्व प्रशासन को दुरुस्त करने की कोषिष की और साथ ही उच्च स्तर पर बरकरार किसानों के शोषण और उनकी नंगी लूट को रोकने का भी प्रयास किया।

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के समय से ही शासकों के शोषणकारी रवैये ने लोगों के भीतर विरोध के बीज डाल दिये थे जो समय-समय पर किसानों की तरफ से होने वाले विद्रोह के रूप में दिखता था। उसके बाद से किसानों के सैकड़ों विद्रोह हुए और आखिरकार इन परिघटनाओं ने 1857 के महान विद्रोह को जन्म दिया। यहां तक किसानों और आदिवासियों के विद्रोह उसके बाद भी जारी रहे लेकिन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हम एक अलग तरह की राजनीति की शुरुआत देख सकते हैं। यह आधुनिक राजनीति थी जिसमें अंग्रेजी भाषा में शिक्षित भारतीय बुद्धिजीवियों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीय विचारधारा के आधार पर पूरे भारत के पैमाने पर एक राजनीति के निर्माण की मांग सामने आई जिसे नये बुद्धिजीवी समुदाय ने पूरे उत्साह के साथ पूरा किया। इस तरह की राजनीतिक गतिविधियों ने विभिन्न तरह की स्थानीय और क्षेत्रीय संगठनों की स्थापना का रास्ता साफ किया जिसके नतीजे के तौर पर 1885 में अखिल भारतीय संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्माण हुआ। यह पाठ्यक्रम राष्ट्रीयता पर आधारित राजनीति और विचारधारा के नये रूप पर विस्तार से विचार-विमर्ष करता है जो औपनिवेशिक शासन के खत्म होने पर एक स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण का प्रयास करता है।

इस पाठ्यक्रम में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुए भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के विभिन्न पहलुओं को समेटने वाले 35 इकाइयों के 8 खंड शामिल हैं। दूसरे राष्ट्रवादी आंदोलनों की तरह भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन में भी यूरोपीय अनुभवों के आधार पर निर्मित राष्ट्रवाद के माडल के साथ भिन्नताएं और समानताएं दोनों थीं। **खंड 1** में हमने विभिन्न सिद्धांतों और अवधारणाओं पर विचार-विमर्ष किया है जो दुनिया के विभिन्न भागों में ढेर सारे प्रकारों के राष्ट्रवाद के तहत आता है। यह खंड इस बात को बिल्कुल साफ तौर पर रेखांकित करता है कि राष्ट्रवाद का कोई एक सर्वमान्य माडल नहीं है जो सभी स्थितियों में लागू किया जा सकता है। माडल दूसरों से नजदीकी और कुछ समानताएं होने के बावजूद अपनी परिस्थितियों और विकास के साथ बिल्कुल विशिष्ट होता है। यहां तक कि एक देश में राष्ट्रवाद के मामले में उसकी उत्पत्ति और विकास को लेकर विचारों के बारे में कोई एकरूपता नहीं होती। इसे इकाई 3 और इकाई 4 में भारतीय राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक सर्वेक्षण में विस्तार से दर्शाया गया है।

**खंड 2** में 19वीं सदी के आखिर में शुरू भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के पहले चरण से 20वीं सदी की शुरुआत के स्वदेशी आंदोलन के बारे में चर्चा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस समेत विभिन्न संगठनों को बनाने के अलावा भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन ने उपनिवेशवाद के आर्थिक ढांचे का एक व्यापक आधार पर आलोचना विकसित किया जिसने इस बात को खारिज किया कि औपनिवेशिक शासन भारतीयों के हित में है। स्वदेशी आंदोलन एक राष्ट्रवादी उभार था जहां राष्ट्रवादी आलोचनाओं के ढेर सारे पुराने धागे भी जुड़े।

**खंड 3** और **4** में आप 1918 से 1939 के बीच के राष्ट्रवादी आंदोलन के अपने व्यापक जन-आधारित लोकप्रिय चरण के बारे में जानेंगे। यहां आप पाएंगे कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पूरी तरह से एकरेखीय नहीं है। विभिन्न तरह की वैचारिक और राजनीतिक धाराओं और संगठनों ने मिलकर इसका निर्माण किया। इंद्रधनुष के एक तरफ गांधीवादी अहिंसा में विष्वास स्थित है जबकि दूसरी तरफ क्रांतिकारी हैं जो इस बात में विष्वास करते थे कि लोगों को अपनी गुलामी के बारे में जानने और औपनिवेशिक राज्य के खिलाफ गोलबंदी करने के लिए हिंसा जरूरी है। उसी तरह से एक तरफ ऐसे उदारवादी मिलते हैं जो ब्रिटिश हुकूमत की तरफ से जितनी भी कम संवैधानिक राहत दी जाती है उसे स्वीकार करना जरूरी समझते थे, जबकि दूसरी तरफ सुभाष चंद्र बोस और आजाद हिन्द फौज (आईएनए) के जवान थे जिन्होंने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ हथियारबंद लड़ाइयां लड़ीं। कांग्रेस के भीतर ही हमें दक्षिणपंथी (जो संपत्तिषाली वर्गों के पक्ष में और मजदूरों और किसानों को छूट देने के खिलाफ थे) और वामपंथी (जिन्होंने आम जनता के लिए क्रांतिकारी कार्यक्रमों का समर्थन किया) धाराएं थीं। सच्चाई यह है कि गांधी जी ज्यादातर वर्गों और समूहों को एक आंदोलन में लाने में सफल रहे। कम से कम कुछ मौकों पर ज्यादातर भारतीयों द्वारा उन्हें एक महान राष्ट्रीय नेता के तौर पर स्वीकार किया गया।

**खंड 5** भारतीय स्वतंत्रता की तरफ ले जाने वाले 1940 के दशक की राजनीति पर केंद्रित है। यह उन परिस्थितियों के साथ शुरू होता है जिसमें विस्तृत लोकप्रिय भागीदारी के साथ महान राष्ट्रवादी उभारों में से एक— 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन — खड़ा हुआ। हालांकि आंदोलन का ब्रिटिश हुकूमत ने भीषण तरीके से दमन किया था। आंदोलन के दौरान और उसके बाद यह बात बिल्कुल साफ हो गई कि औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपनाए गए वैचारिक प्रभावों को भारतीयों ने हिला दिया है। 1940 के मध्य में बहुत सारे लोकप्रिय विरोध आंदोलनों, खासकर आईएनए बंधकों और आरआईएन विद्रोहियों के समर्थन में, औपनिवेशिक शासकों के खिलाफ लोकप्रिय भावना को उभारा। युद्ध के दौरान साम्राज्यवादी व्यवस्था के कमजोर होने और औपनिवेशिक शासन से लोगों की नाराजगी ने अंग्रेजी हुकूमत के लिए भारत छोड़ने के अलावा कोई विकल्प नहीं छोड़ा जो 1947 में सम्पन्न हुआ। हालांकि उन्होंने सांप्रदायिक नफरत का बीज बो दिया था जिसका नतीजा देश के विभाजन के तौर पर सामने आया। देश की सभी राष्ट्रवादी ताकतों के प्रयासों के बाद भी देश का सांप्रदायिक आधार पर बंटवारे को नहीं रोका जा सका। इसे राष्ट्रवादी आंदोलन की एक भीषण नाकामी के तौर पर चिन्हित किया जा सकता है।

**खंड 6** और **7** राष्ट्रवादी आंदोलन (खासकर इसके सबसे महत्वपूर्ण संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) और विभिन्न वर्गों और समूहों के बीच रिफ्तों से जुड़ा है। लोकतांत्रिक और जन राजनीति के युग में किसी भी आंदोलन और संगठन की सफलता का पैमाना उसमें शामिल विभिन्न प्रकार के लोगों की संख्या के आधार पर लगाया जाता है। इन खंडों में इस बात पर विस्तार से चर्चा है कि राष्ट्रवादी नेताओं और संगठनों ने धीरे-धीरे किसानों, मजदूरों, महिलाओं और दलितों को राष्ट्रीय आंदोलन के दायरे में ले आए। राष्ट्रवादी आंदोलन एक सभी वर्गों के मोर्चे के तौर पर सामने आया जहां विरोधी वर्ग भी एक साथ खड़े हो सकते थे।

**खंड 8** भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की उपलब्धियों की एक पूरी तस्वीर पेश करता है। औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संघर्ष को संचालित करने के लिए अपनाई गई रणनीतियां और उनकी कामयाबियां तथा नाकामियां इस खंड का विषय है। भारतीय संविधान भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता, कानून का शासन और लोकतांत्रिक भागीदारी पर जोर देता है। राष्ट्रवादी आंदोलन की विरासत में धर्मनिरपेक्षता, बहुलतावाद, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व शामिल है।

कुछ इकाइयों में आप कभी चीजों के एक दूसरे में मिला हुआ या विचारों के बिंदुओं पर भिन्नता पाएंगे। कुछ ऐसे संदर्भ और शब्द भी हो सकते हैं जिनसे हम पूरी तरह से शायद सहमत न हों। जैसा कि हमारी इकाइयां अलग-अलग लोगों द्वारा लिखी गई हैं, हमने लेखकों की स्वतंत्रता को बनाए रखने की कोषिष की है। इस तरह से हमने विभिन्न विचारों को निकालने का प्रयास नहीं किया है या फिर हर चीज को एक ही खांचे में भी नहीं रखा है। विचारों में भिन्नता के चलते भी यह बात दिखेगी कि राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े कुछ मुद्दों को अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग तरीके से व्याख्यायित किया है। हालांकि हमने वैचारिक अति से भरसक बचने की कोषिष की है लेकिन विचारों की भिन्नता को हटाया नहीं है क्योंकि वह एक स्वस्थ बहस की प्रक्रिया को मजबूत करेगी।



---

## खंड 1 परिचय

---

इस पाठ्यक्रम की पहली इकाई आपको राष्ट्रों और राष्ट्रवादों से परिचित कराएगी। जैसा कि हम जानते हैं राष्ट्रवाद एक आधुनिक अवधारणा है जो यूरोप में 18वीं सदी में विकसित हुआ था और यूरोपीय वर्चस्व के चलते दुनिया के सभी हिस्सों में फैला। राष्ट्र के तौर पर सामने आए समुदाय के नये रूप का निर्माण कल्पना के जरिये हुआ न कि साझे अनुभवों से। इस तरह के समुदाय अपने लिए भी प्रतिनिधि राज्य की मांग करने लगे और ज्यादातर मामलों में वे सफल रहे। इसी प्रक्रिया के जरिये नये राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ जो राज्य का एक बिल्कुल नया रूप था और बिल्कुल सही तौर पर समाज से जुड़ा हुआ था। **इकाई 1** राष्ट्रवाद के विभिन्न सिद्धांतों और उनकी भारत के मामले में प्रासंगिकता पर विचार-विमर्श करेगी।

**इकाई 2** एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के उभार और विकास पर चर्चा करती है। यह विभिन्न प्रकारों के बारे में व्याख्या और विश्लेषण करता है जिसे इन महाद्वीपों के इन देशों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों के दौरान अपनाया। जब कुछ आंदोलन मुख्य तौर पर भारत में संघर्ष के अहिंसात्मक रास्ते का पालन कर रहे थे तब दूसरे कई स्वतंत्रता के लक्ष्य को हासिल करने के लिए विभिन्न स्तरों की हिंसा में जाने के लिए मजबूर कर दिए गए थे। इससे भी ज्यादा उपनिवेश विरोधी आंदोलन के बाद पैदा होने वाला राष्ट्र-राज्य कई और कारणों का नतीजा है। एशिया और अफ्रीका में राष्ट्र-राज्यों के निर्माण में कोई एक कारण (जैसे औद्योगिक विकास, साझी भाषा, सार्वजनिक शिक्षा या साझी संस्कृति) जिम्मेदार नहीं है। बहुत सारे मामलों में राष्ट्र-राज्यों के उभरने से पहले ही सामान्य स्तर पर साझेपन का अहसास विकसित हो गया था जो राष्ट्रीयता के निर्माण की नीति की ओर अग्रसर था।

अगली दो इकाइयों में भारतीय राष्ट्रवाद पर लेखनों के ऐतिहासिक सर्वेक्षणों को लिया गया है। **इकाई 3** में हम भारतीय राष्ट्रवाद पर उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी पहलुओं की चर्चा करेंगे। उपनिवेशवादी इतिहास लेखन के केन्द्र में भारत के कभी राष्ट्र न बन पाने की बात थी क्योंकि ऐसा माना गया कि भारत विभिन्न प्रकार की जातियों, धर्मों, भाषाई और क्षेत्रीय समूहों का केवल एक जमावड़ा है। इसमें इस बात का भी दावा किया गया था कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व एक छोटे से अंग्रेजी शिक्षित अल्पसंख्यक समूह ने किया था जो भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। इस विचार की प्रतिक्रिया में बहुत सारे राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इस बात का दावा किया कि भारत में हमेशा से राष्ट्र बनने की क्षमता रही है जबकि कुछ ने यहां तक कहा कि इतिहास के कई मौकों पर भारत राष्ट्र के तौर पर सामने आया। राष्ट्रवादी इतिहासकार राष्ट्रीय आंदोलन को एक अखिल भारतीय आंदोलन के तौर पर देखते हैं जो आदर्शवादी और स्वार्थहीन नेताओं के नेतृत्व में सभी वर्गों और समूहों को पार कर गया। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी और उपनिवेशवादी दोनों इतिहासकारों की आलोचना की और आर्थिक कारकों की भूमिका और एक राष्ट्र में बनने वाले वर्गों पर जोर दिया। उन्होंने यह तर्क पेश किया कि राष्ट्रवादी आंदोलन प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों रूप से संपत्तिशाली वर्ग के पक्ष में था, हालांकि भारतीय समाज के दूसरे ज्यादातर वर्ग भी इसमें शामिल हुए।

**इकाई 4** दो और महत्वपूर्ण धाराओं—कैंब्रिज स्कूल और सबअल्टर्न स्कूल के बारे में बातचीत करती है। दोनों मुख्यधारा के राष्ट्रवाद और राष्ट्रवादी नेताओं के आधिकारिक महिमामंडन पर सवाल खड़े करते हैं। लेकिन कैंब्रिज स्कूल से जुड़े इतिहासकार उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद के विचार को सिरे से खारिज करते हैं जबकि सबअल्टर्न इतिहासकार एक लोकप्रिय, स्वायत्त और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की मौजूदगी पर जोर देते हैं जो आधिकारिक रूप से बिल्कुल भिन्न था। इन व्याख्याओं के अतिरिक्त हमने संक्षेप में एक और प्रवृत्ति पर बातचीत की है जो औपनिवेशिक भारत से पहले मजबूत देशभक्त और यहां तक कि राष्ट्रवादी भावनाओं की मौजूदगी की तरफ इशारा करता है।

---

# इकाई 1 राष्ट्र और राष्ट्रवाद\*

---

## संरचना

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य को समझना
  - 1.2.1 राष्ट्रवाद का प्रश्न
  - 1.2.2 राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य को परिभाषित करना
- 1.3 राष्ट्रवाद के सिद्धांत के सामने चुनौतियां
- 1.4 राष्ट्रवाद के सिद्धांत
  - 1.4.1 गैर आधुनिकतावादी सिद्धांत
  - 1.4.2 आधुनिकतावादी सिद्धांत
- 1.5 भारतीय राष्ट्रवाद
- 1.6 सारांश
- 1.7 अभ्यास

---

## 1.1 प्रस्तावना

---

यह पाठ्यक्रम की पहली इकाई है। इसमें आपको राष्ट्रवाद की अवधारणाओं से परिचित कराने की कोषिष की गई है कि इसे इतिहासकारों और दूसरे सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा किस तरह से समझा गया।

जैसा कि आप जानते हैं भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ चलने वाला एक महान और लंबा संघर्ष था। राष्ट्रवाद इसकी मुख्य विचारधारा और हथियार था जिसकी मदद से इस संघर्ष को संचालित किया गया। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रवाद दो प्रमुख विचारों का प्रतिनिधित्व करता था: साम्राज्यवाद विरोध और राष्ट्रीय एकता। दूसरे शब्दों में कोई भी शख्स, आंदोलन या संगठन इन दोनों विचारों को साथ लेकर चलता है उसे राष्ट्रवादी माना जा सकता है।

लेकिन इस बात को याद रखना जरूरी है कि राष्ट्रवाद केवल भारत तक सीमित नहीं था। यह केवल एशिया और अफ्रीका के देशों तक सीमित नहीं था जो विदेशी शासन के मातहत आने के बाद उससे छुटकारा पाने के लिए संघर्ष किए। राष्ट्रवाद सही मायने में एक वैश्विक अवधारणा थी जो दुनिया के बहुत सारे देशों में उभरी और अपनी मौजूदगी का अहसास कराया। ऐसा कहा जाता है कि आधुनिक विषय में राष्ट्रवाद सबसे मजबूत राजनीतिक ताकत था। इसने अपने आपको राजनीति, विचारधारा, आंदोलन, विष्वास, व्यवस्था, एक भावना और एक जुनून के तौर पर पेश किया। बड़ी संख्या में कहानियां, कविताएं, उपन्यास और साहित्य राष्ट्रवाद को विषय बनाकर लिखे गए हैं। ऐसा लगता है कि राष्ट्रवाद एक जटिल अवधारणा है जो बिल्कुल अलग और विपरीत परिस्थितियों में सामने आया है। यूरोप के विकसित औद्योगिक समाजों और एशिया और अफ्रीका के अविकसित समाजों दोनों राष्ट्रवाद के जादू से नहीं बच सके। ऐसे समाज जिनके बीच बहुत कम चीजें साझी थीं वो भी तकरीबन उसी समय (18वीं से 20वीं सदी) राष्ट्रवादी अवधारणा की परिधि में आए। इसलिए ऐसा लगता है कि संदर्भ से जुड़ी विशिष्ट व्याख्या के अलावा इसके उभार के पीछे की एक सामान्य और

सार्वभौमिक व्याख्या जरूरी है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो हम राष्ट्रवाद के सिद्धांत की बात कह रहे हैं। इस सिद्धांत (या सिद्धांतों) को आमतौर पर राष्ट्रवाद के प्रति सीधे जिम्मेदार होनी चाहिए। यह इकाई आपके सामने राष्ट्रवाद के कुछ सामान्य सिद्धांतों की व्याख्या करेगी।

---

## 1.2 राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य को समझना

---

यह इकाई तीन चीजों पर केंद्रित करेगी: 1) राष्ट्रवाद से जुड़ी कुछ प्रमुख बहसों और विवाद, 2) राष्ट्रवाद के बहुत सारे सिद्धांत जिन्हें सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित किया गया है, और 3) इन सिद्धांतों का भारत के लिए एक मामले के अध्ययन के तौर पर प्रासंगिकता। राष्ट्रवाद का असली सवाल क्या है? और यह महत्वपूर्ण क्यों है?

### 1.2.1 राष्ट्रवाद का प्रश्न

जब हम राष्ट्रवाद के बारे में बात करते हैं तो हम 18वीं और 20वीं सदी के बीच के समय के बारे में बोलते हैं। यह वही काल था जब बड़े और छोटे समुदायों की एक बड़ी तादाद एक बड़े और एकरूप समुदायों (तुलनात्मक तौर पर एक छोटी संख्या) में तब्दील हुई। इसे और आसान तरीके से इस तरह से कहा जा सकता है छोटे समुदायों की एक बड़ी संख्या बड़े समुदायों की एक छोटी संख्या में तब्दील होना शुरू हो गई। आकारों के विस्तार ने संख्याओं की अधिकता को विस्थापित कर दिया। नये समुदाय नये रिश्तों और एकजुटता के निषानियों के जरिये सामने आये। नई एकजुटता कुछ यूँ विकसित हुई जो प्रकृति में बिल्कुल निजी नहीं थी लेकिन बहुत मजबूत थी। समूह और व्यक्ति एक दूसरे से परिचित नहीं होने के बावजूद खुद को राष्ट्र के नाम से पुकारे जाने वाले नये बने बड़े अदृश्य समुदाय का सदस्य मानने लगे। इस प्रक्रिया में जो चीज शामिल थी वो नये तरह की एक 'कल्पना' थी। नये समुदायों का अपना निर्माण सबसे अलग एक कल्पना के जरिये हो रहा था। नये समुदाय पारस्परिक, संसाधनों की साझा हिस्सेदारी या परिचय के जरिये नहीं बन रहे थे। इतिहास में ज्यादातर समुदाय परिचय (ग्रामीण समुदायों, भाषा समुदायों या दूसरे स्थानीय समूह) पर आधारित रहे हैं। इसके विपरीत नया राष्ट्रीय समुदाय अपरिचय या फिर अनामिता पर आधारित था। नया समुदाय एक साथ प्रत्येक दिन के साझे अनुभवों पर नहीं बल्कि एक कुछ निश्चित किस्म की कल्पना के आधार पर लाया गया। इस तरह से संक्षेप में राष्ट्रवाद के अगुवा सिद्धांतकार बेनेडिक्ट एंडरसन के हवाले से कहें तो राष्ट्र 'परिकल्पित समुदाय' हैं।

इससे भी आगे इन नये समूहों और समुदायों ने इस बात पर भी जोर डालना शुरू कर दिया कि उनका अपना प्रतिनिधि राज्य होना चाहिए। दूसरे शब्दों में राज्य व्यवस्था बाहरी, अपरिचित समूहों और समुदायों की (जैसा कि आमतौर पर इतिहास में होता रहा है) नहीं होनी चाहिए बल्कि उन्हीं समुदायों से निकला होना चाहिए और उनका प्रतिनिधि होना चाहिए। यह सच में एक विशिष्ट स्थिति थी। राज्य और समाज के बीच यह अनुरूपता या पहचान कुछ बिल्कुल अद्भुत और असामान्य था। परिस्थिति की ये नई विशेषताएं राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य की परिभाषित विशेषताएं बन गईं। राष्ट्रवाद के एक और सिद्धांतकार एर्नेस्ट गेलनर ने अपनी किताब के प्रारंभिक पैराग्राफ में इन शब्दों को कुछ इस तरह से परिभाषित किया: "राष्ट्रवाद प्राथमिक तौर पर एक राजनीतिक सिद्धांत है जो इस बात को कहता है कि राजनीतिक और राष्ट्रीय यूनिट को एक समान होना चाहिए। राष्ट्रवाद एक भावना, या एक आंदोलन के तौर पर इन सिद्धांतों के जरिये सबसे बेहतर तरीके से परिभाषित किया जा सकता है। राष्ट्रवादी भावना सिद्धांतों के उल्लंघन से पैदा होने वाले गुस्से का अहसास या फिर उसके पूरे होने पर मिलने वाली खुशी का अहसास है। एक



राष्ट्रवादी आंदोलन एक ऐसी चीज है जो इस तरह की भावना से प्रेरित है।" (एर्नेस्ट ग्लेनर 1983: पृ.1)

राष्ट्र और राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद की इस परिभाषा में स्पष्टता और विशिष्टता की योग्यता है। इसमें केवल एक ही समस्या है कि यह राष्ट्र की एक समझ पर आधारित है। अगर राष्ट्रवाद एक राजनीतिक सिद्धांत है जो राज्य (राजनीतिक इकाई) और राष्ट्र (राष्ट्रीय इकाई) की अनुरूपता का प्रतिनिधित्व करता है तब हमें राष्ट्रवाद को समझने के लिहाज से इस परिभाषा के आधार पर हमें उसे परिभाषित करने में सफल होना चाहिए। एक राष्ट्र की परिभाषा कर पाना आसान नहीं है। यह कठिन और विवादास्पद दोनों है। एक राष्ट्र को परिभाषित करने के प्रयास में मुख्य समस्या यह है कि किसी खास दिए गए समय पर बड़ी तादाद में मौजूद राष्ट्र उस परिभाषा पर खरे नहीं उतरते हैं। इस तरह से ऐसा लगता है कि राष्ट्रों की असली दुनिया (अपनी एकता के बावजूद) इतनी विविधतापूर्ण है कि किसी अकेली परिभाषा में इन सबको शामिल करने की आशा नहीं की जा सकती है। इसी की एक वजह है कि विद्वान आम तौर पर राष्ट्रवाद की कोई सार्वभौमिक परिभाषा देने से बचते हैं, जो सभी परिस्थितियों पर लागू हो। वे विशिष्ट राष्ट्रों को व्याख्यायित करना आसान पाते हैं। विशिष्ट अनुभवों के आधार पर कुछ बड़े सिद्धांतों को चुन पाना भी बहुत ज्यादा कठिन है। एर्नेस्ट गेलनर दो गुणों— संस्कृति और इच्छा—को चिन्हित करते हैं जो सामान्य परिभाषा के एक हिस्से का निर्माण कर सकते हैं। लेकिन वो खुद ही इन दोनों की अपर्याप्तता को समझते थे और वास्तव में दोनों सभी तरह के राष्ट्रों की सही पहचान नहीं कर पाते थे। उन्हीं के हवाले से एक बार फिर:

"राष्ट्रवाद का विचार जो हमारे युग में सार्वभौमिक और सामान्य लगता है, वस्तुतः क्या है? दो परिवर्तनशील, अस्थायी परिभाषाओं पर बातचीत इस काल्पनिक अवधारणा को चिन्हित करने में मददगार साबित होगी। 1) दो व्यक्ति एक ही राष्ट्र के हैं, केवल और केवल वो एक संस्कृति की साझेदारी करते हैं जहां संस्कृति का मतलब है विचारों, पहचानों और संगठनों और व्यवहार और संचार के रास्तों की एक व्यवस्था। 2) दो इंसान एक ही राष्ट्र के हैं, केवल और केवल दोनों एक दूसरे को एक ही राष्ट्र से जुड़े होने के तौर पर पहचानते हैं। दूसरे शब्दों में राष्ट्र इंसानों को बनाते हैं। राष्ट्र इंसानों की प्रतिबद्धताओं और समर्पणों और एकजुटताओं की कलाएं हैं। लोगों की केवल एक श्रेणी एक राष्ट्र बन जाती है जब श्रेणी के सदस्य पूरे विश्वास के साथ एक दूसरे के कुछ पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों का अपनी सदस्यता की हिस्सेदारी के न्याय के तौर पर चिन्हित करते हैं..... इसमें से प्रत्येक अस्थायी परिभाषाएं, सांस्कृतिक और स्वयंसेवी कुछ योग्यता रखती हैं। उनमें से प्रत्येक में एक तत्व ऐसा है जो राष्ट्रवाद को समझने के लिहाज से असली महत्व रखता है। लेकिन कोई भी पर्याप्त नहीं है। सामान्य तौर की बजाय मानव विज्ञान में पहले की परिभाषा से मान्यता प्राप्त संस्कृति की परिभाषाएं कुख्यात तौर पर कठिन और असंतोषजनक हैं। इस समस्या का सबसे बेहतर निदान औपचारिक परिभाषा में जाने का प्रयास किए बगैर सीधे इस शब्द (राष्ट्र) के इस्तेमाल में है।"

### 1.2.2 राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य को परिभाषित करना

ऊपर के हिस्से में परिभाषा संबंधी कठिनाइयों के आने के बाद हम अभी भी स्पष्टता के लिहाज से दोनों शब्दों—राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य— के अस्थायी और परिवर्तनशील परिभाषाएं तय कर सकते हैं।

शायद राष्ट्र को परिभाषित करने की दिशा में पहला कदम है इसकी स्वाभाविकता पर सवाल उठाना और उसे खारिज करना। एक राष्ट्र हमें दिया गया कोई एक कुदरती मानव समुदाय

नहीं है। यह एक ऐतिहासिक श्रेणी है या जिसे इतिहास में इतिहास के द्वारा बनाया गया है। ये कुछ निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों का उत्पाद है।

आधुनिक काल से पहले या फिर 18वीं और 19वीं सदी में राष्ट्रवाद के उभार से पहले राष्ट्रवाद 'षब्द' कई प्रकार से इस्तेमाल किया जाता था। यह विशेष रूप से नस्ल या कबीला के अर्थ में प्रयुक्त होता था। इन शब्दों का अर्थ आज राष्ट्र को दिए गए अर्थ से बिल्कुल भिन्न है, हांलाकि ये सारे शब्द मानवीय समूहों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में राष्ट्र को परिभाषित करने का एक नया आयाम सामने आया। अर्नेस्ट रेनान ने राष्ट्र की नस्लीय और प्राकृतिक परिभाषाओं को खारिज कर दिया। इनके स्थान पर उन्होंने 'इच्छा, स्मृति और चेतना' पर आधारित राष्ट्र की ऐच्छिक परिभाषा दी। इस परिभाषा में दो प्रमुख तत्व थे:

- 1) यह राष्ट्रों को पहले से मौजूद तथ्य के रूप में नहीं देखती थी, बल्कि इनके ऐतिहासिक निर्माण पर जोर देती थी।
- 2) यह इस धारणा को भी अस्वीकार करती थी कि राष्ट्रों का निर्माण प्राकृतिक सीमाओं जैसे नदी, पहाड़ और समुद्र द्वारा होता है। इनके बजाय राष्ट्रों का निर्माण इच्छा और चेतना द्वारा होता है।

राष्ट्रों को समझने में ये तरीका वास्तव में एक बड़ा मोड़ साबित हुआ। इसने राष्ट्रों को एक आकस्मिक जरूरत के तौर पर देखा जिसे मानव इच्छा के जरिये लाया गया था। इस समझ पर राष्ट्रों के बारे में कोई भी चीज मजबूत और स्थाई नहीं थी। उनका निर्माण भी किया जा सकता था और उनका खात्मा भी। 1882 में राष्ट्र की अवधारणा पर दिए गए अपने मसहूर भाषण में रेनान ने कहा था कि राष्ट्र कोई चिरस्थाई चीज नहीं है। वो शुरू हुए हैं और उनका खात्मा भी होगा। इस बात की पूरी संभावना है कि उन्हें यूरोपीय संघ प्रतिस्थापित करेगा। लेकिन ये उस सदी का कानून नहीं है जिसमें हम रह रहे हैं। मौजूदा समय में राष्ट्रों की मौजूदगी अच्छी है यहां तक कि जरूरी है। उनकी मौजूदगी स्वतंत्रता की गारंटी हैं जो खो जाएगी अगर दुनिया के पास एक ही कानून और एक ही मालिक होता। "

हालांकि इस समझ के साथ एक बड़ी समस्या थी जो इस बात से बिल्कुल अलग थी कि यह यूरोप पर केंद्रित था। श्रेणियों के निर्माण (इच्छा, याद और चेतना) के जरिये यह राष्ट्रों की अच्छे और कारगर तरीके से गिनती करता था जो राष्ट्रों को एक संकेत दे सकता था। लेकिन ये श्रेणियां प्रकृति में इतनी आम थीं कि उन्हें ज्यादातर समुदायों में हासिल किया जा सकता था। इच्छा और चेतना के आधार पर बहुत सारे गैर राष्ट्रीय समुदायों को भी पहचाना जा सकता था। वास्तव में ऐसा कहा जा सकता है कि अगर सारे नहीं तो ज्यादातर मानव समुदायों की इस आधार पर पहचान हो सकती है। इस तरह से सभी प्रकार के मानव समुदायों के एक बहुत बड़े पूल से विशिष्ट और अलग मानव समुदाय की कैसे पहचान की जाएगी? रेनान की परिभाषा ने राष्ट्रों के सामान्य हिस्से को बेहतर तरीके से पकड़ा लेकिन उनके विशिष्ट पक्ष को दरकिनार कर दिया। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इसके पास समावेशी होने की पूरी योग्यता थी। इसकी खामी यह थी कि यह पर्याप्त तौर पर विशिष्ट नहीं थी।

रेनान की समझ की कुछ कमियों को जोसेफ स्टालिन ने 1913 में रेखांकित किया था। उन्होंने राष्ट्रों के कुछ खास विशिष्टताओं पर जोर दिया। स्टालिन ने राष्ट्रों को कुछ इन शब्दों में परिभाषित किया: राष्ट्र लोगों के एक स्थायी समुदाय की ऐतिहासिक निर्मिति है, जो समान भाषा, क्षेत्र, आर्थिक जीवन एवं मनोवैज्ञानिक बुनावट के आधार पर गठित होता है और

साझी संस्कृति में परिलक्षित होता है। इस परिभाषा ने राष्ट्रों की पहचान के लिहाज से पांच मुख्य विशेषताओं को प्रतिपादित कर दिया: ऐतिहासिक निरंतरता, समान भाषा, समान क्षेत्र, आर्थिक जीवन में समानता और साझी संस्कृति।

स्टालिन की समझ कुछ मामलों में रेनान से बिल्कुल विरोधी थी हांलाकि दोनों राष्ट्रों के निर्माण के मामले में बुनियादी धारणाओं की साझेदारी करते थे कि राष्ट्र एक पहले से मौजूद तथ्य नहीं हैं और उनका एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्माण होता है। अगर रेनान राष्ट्रों को सामान्य पक्ष के पैमाने पर देखते हैं तो स्टालिन दूसरे छोर पर पहुंच जाते हैं और राष्ट्रों को विशिष्ट पक्ष से देखने की कोषिष करते हैं। स्टालिन राष्ट्र के विशिष्ट हिस्सों को इतना प्रचारित करते हैं कि वह शायद राष्ट्रों के निर्माण में इच्छा और चेतना के सामान्य योगदान को नजरंदाज कर देते हैं। अगर हम 20वीं सदी में यूरोपीय यहूदियों का उदाहरण लें तो यहूदी राष्ट्र स्टालिन की परिभाषा में पर्याप्त तौर पर समाहित नहीं होता है। लेकिन ये रेनान की परिभाषा में समाहित होता है।

इस बात में कोई शक नहीं है कि स्टालिन की परिभाषा रेनान से आगे थी। लेकिन अगर दोनों की परिभाषा को मिला दिया जाए तो भी दुनिया के सारे संभावित राष्ट्र इसमें समाहित नहीं हो सकते हैं। तो फिर वह कौन-सा अहम तत्व है जो यहां नदारद है? यहीं एर्नेस्ट गेलनर धीरे से प्रवेश कर जाते हैं। उन्होंने 1983 में अपनी किताब राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद में इस छूटे हुए का जिक्र किया। उन्होंने महत्वपूर्ण और कुछ विवादित विचार को आगे किया जिसमें कहा गया था कि आखिर में राष्ट्रों का निर्माण राष्ट्रवाद से होता है किसी दूसरे तरीके से नहीं। यह ऐसा मामला नहीं है कि पहले बने राष्ट्र अपने औचित्य का निर्माण राष्ट्रवाद के विचारों के जरिये करते हैं। अगर हम इस समझ को भारतीय मामले में लागू करें तो हम इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि यह भारतीय राष्ट्र नहीं था जिसने भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण किया बल्कि भारतीय राष्ट्रवाद की विचारधारा के जरिये भारतीय राष्ट्र अपने आप निर्मित हो गया जिसमें निष्चय ही अन्य कारक भी शामिल हैं।

इस नदारद तत्व के जुड़ने से हमारे राष्ट्र की परिभाषा पूरी हो सकती है। अगर हम इन तीनों तत्वों यानी *आत्मपरक* (सबजेक्टिव), *वस्तुनिष्ठ* एवं *वैचारिक* को एक साथ रख दें तो हम भरोसे के साथ कह सकते हैं कि ये तीनों तत्व मिलकर राष्ट्र की एक ऐसी परिभाषा दे सकते हैं जिसके दायरे में राष्ट्र के रूप में सोची जा सकनेवाली सारी संभावनाएं समाहित हो सकती हैं। राष्ट्र की यह अवधारणा ऐसी समावेषी होगी जो सभी राष्ट्रों को अपने दायरे में ला सकेगी और उतनी ही विशिष्ट भी होगी जो दूसरे गैर राष्ट्रीय समुदायों से राष्ट्र की भिन्नता की पहचान भी सुनिश्चित कर सकेगी।

इस परिभाषा की विशेषता यह है कि कोई भी वास्तविक या संभावित राष्ट्र इसकी परिधि से बाहर नहीं है। फिर भी, यह उन समूहों को छोड़ देता है जो राष्ट्र नहीं हैं। लेकिन यह ध्यान रखने योग्य है कि इस परिभाषा की सारी विशिष्टताएं प्रत्येक स्थिति में लागू नहीं होती हैं। उदाहरण के तौर पर, भारतीय राष्ट्रवाद एक सामान्य भाषा पर आधारित नहीं था। यहूदी या पोलिष राष्ट्रवाद एक सामान्य क्षेत्र या एक सामान्य आर्थिक जीवन पर आधारित नहीं था। पूर्वी यूरोप के कुछ अन्य राष्ट्रियताएं (जैसे अल्बानिया) किसी लम्बी ऐतिहासिक निरंतरता पर आधारित नहीं थीं। अतः सारे राष्ट्र इस परिभाषा के सारे तत्वों को समाहित नहीं करते हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि सारे वास्तविक या संभावित राष्ट्र इस परिभाषा के कुछ तत्वों पर आधारित हैं।

यदि इस प्रकार की विस्तृत और समावेषी राष्ट्र की परिभाषा हमें उपलब्ध है (जिसके लिए हम रेनान, स्टालिन और गेलनर के आभारी हैं), तो हमारे लिए राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य

को समझना आसान हो जाता है। जैसा कि इस इकाई में पहले बताया जा चुका है, राष्ट्रवाद राष्ट्र और राज्य की एकता पर जोर देता है और इस बात को महत्व देता है कि राज्य जनता के प्रतिनिधि के तौर पर काम करे। एक राष्ट्र-राज्य वास्तव में इस तरह का राज्य होता है। हालांकि मानव इतिहास में विभिन्न प्रकार के राज्य मौजूद रहे हैं लेकिन किसी भी पहले के राज्य ने राष्ट्रवाद की इन शर्तों को पूरा नहीं किया। यह सिर्फ आधुनिक समय और परिस्थितियों में ऐसा हुआ कि एक नए तरह का राज्य-राष्ट्र-राज्य-विकसित हुआ जिसमें राज्य और समाज एक दूसरे से अभिन्न जुड़े हुए थे। राष्ट्र बृहद आधुनिक समुदाय हैं जो अपना प्रतिनिधि राज्य चाहते हैं। वस्तुतः राष्ट्रवाद इसके लिए जमीन तैयार करता है।

राष्ट्र और राष्ट्रवाद के बारे में कुछ समझने के बाद अब समय आ गया है कि हम राष्ट्रवाद के सिद्धांतों पर चर्चा करें जिनमें इस परिघटना की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

### 1.3 राष्ट्रवाद के सिद्धांत के सामने चुनौतियां

यह बात बेहद महत्वपूर्ण है कि नये राष्ट्रीय समुदायों का उदय दुनिया में एक दूसरी भीमकाय अवधारणा के साथ हुआ— दुनिया का कृषि से एक औद्योगिक समाज में परिवर्तन और एक नये किस्म के सामाजिक ढांचे का निर्माण जिसे औद्योगिक समाज का नाम दिया गया। यह महज एक इत्तफाक था या फिर दोनों बदलाव (छोटे स्थानीय समुदायों से बड़े राष्ट्रीय समुदायों और कृषि समाजों से एक औद्योगिक सामाजिक व्यवस्था की ओर) एक दूसरे से कारण और प्रभाव के रिश्ते के साथ जुड़े हुए हैं? बहुत सारे विद्वान सोचते थे कि दोनों एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। एर्नेस्ट गेलनर ने एक साफ और उच्च कोटि का सिद्धांत दिया कि कैसे इस बदलाव से राष्ट्रवाद का उदय जुड़ा हुआ था और गहराई से इसी में अंतर्निहित था। बहुत दूसरे लोग इस बिंदु पर उनसे सहमत थे। बड़ी तादाद में विद्वानों ने राष्ट्रवाद को एक आधुनिक प्रक्रिया के रूप में देखा और कुछ ने इसे उद्योगवाद से जोड़कर देखा। इस विचार के मुताबिक उद्योगवाद में कुछ था जिसने राष्ट्रों का निर्माण किया। औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में राष्ट्र का निर्माण अंतर्निहित था। औद्योगिक समाज की कुछ विशेषताएं इस तरह की थीं कि विभिन्न मानव समुदायों का कच्चा माल साफ सुथरा, मानकों पर खरा, बिल्कुल घर में तैयार, बड़े राष्ट्रीय समुदायों के बने बनाये उत्पादों में तब्दील हो गया। निष्चित तौर पर दुनिया के महान राष्ट्रवादी अनुभव को एक ऐसे सिद्धांत की जरूरत थी जो इतना बड़ा होना चाहिए कि वह उन अनुभवों को समेट सके। उद्योगवाद का सिद्धांत कुछ सवालियों के जवाब जरूर देता है लेकिन कुछ अभी भी अनुत्तरित हैं।

राष्ट्रवाद को उद्योगवाद से जोड़ने के सिद्धांत में एक खास समस्या है। यह बात बिल्कुल साफ है कि उद्योगवाद के तौर पर विकास केवल यूरोपीय देशों के कुछ पाकेटों तक सीमित था। तुलनात्मक रूप से राष्ट्रवाद दुनिया के बड़े हिस्सों में फैला था। उद्योगवाद और राष्ट्रवाद का दौर तकरीबन एक साथ शुरू (18वीं सदी के अंत से 19वीं सदी के बीच) हो सकता है लेकिन उसके बाद उनका फैलाव एक दूसरे से अलग हो गया। उनका विस्तार उनके द्वारा की गई अपेक्षाओं के बिल्कुल विपरीत रहा। उद्योगवाद के बारे में सामान्य अपेक्षा यह थी कि धीरे-धीरे औद्योगिक प्रभाव में विस्तार होगा और दुनिया के दूसरे हिस्सों में फैल जाएगा। तुलना के हिसाब से राष्ट्रवाद को एक यूरोपीय अवधारणा के तौर पर देखा जाता था न कि वैश्विक। लेकिन दोनों भविष्यवाणियां सफल नहीं रहीं। उद्योगवाद एक समान और एक तरीके से पूरी दुनिया में नहीं फैल पाया। बजाय इसके इसने एक यूरोपीय केंद्र का निर्माण कर दिया। और उसके साथ ही एक हाषिया भी बन गया जिसमें एषिया और अफ्रीका के देश शामिल थे। इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं को केंद्र की सेवा के लिए लगा दिया गया। केंद्र और हाषिये के बीच लेन-देन साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नये यंत्रों के द्वारा संचालित किया जाने लगा।

तुलनात्मक तौर पर राष्ट्रवाद बाकी पूरी दुनिया में फैला और सही मायने में एक वैश्विक अवधारणा के तौर पर विकसित हुआ। इसमें कुछ भी खास तौर पर यूरोपीय नहीं था। इसने अपने प्रभाव को उन इलाकों और समुदायों पर भी डाला जो औद्योगीकरण से बहुत ज्यादा दूर थे। यही चीज राष्ट्रवाद के सिद्धांत के लिए एक असली चुनौती थी जिसे औद्योगीकरण के विस्तार के साथ जोड़ा गया था साथ ही औद्योगीकृत समाज तक सीमित रखा गया था। इसे एक नये तरीके और एक भिन्न किस्म की व्याख्या की आवश्यकता थी।

इस बात को लेकर बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए कि राष्ट्रवाद के तौर पर फैली अवधारणा इतने आसान तरीके से एकाएक नहीं आयी होगी। अगर दुनिया का एक बड़ा हिस्सा इसी तरह के अनुभवों से गुजरा और एक हद तक एक ही समय में तो ऐसे में उसके पीछे एक गंभीर कारण होगा। इसी तरह से राष्ट्रवाद की पैदाइश के लिए व्यापक स्तर पर इसी तरह की परिस्थितियां रही होंगी। उदाहरण के लिए 19वीं सदी के इंग्लैंड और 20वीं सदी के भारत में क्या समानता थी? एक बेहद आगे बढ़ा हुआ औद्योगिक देश और एक साम्राज्यवादी महाशक्ति थी जबकि दूसरा आर्थिक तौर पर एक बहुत पिछड़ा और साम्राज्यवादी वर्चस्व का शिकार था। ऐसी क्या साझी परिस्थितियां थीं जो दोनों समाजों में राष्ट्रवाद के उदय का कारण बनीं?

इस प्रकार की दुविधाओं के कारण राष्ट्रवाद का कोई एक सिद्धांत नहीं है बल्कि बहुत सारे हैं। लेकिन यह इतना भी नहीं है कि हम विभिन्न तरह के राष्ट्रवाद की बात करें। लेकिन राष्ट्रवाद के उभार के लिए हमारे पास अलग-अलग व्याख्याएं हैं। इसलिए ये व्याख्याएं ही सबको अलग-अलग करती हैं जैसा कि बेनेडिक्ट एंडरसन ने लिखा है " किसी एक राजनीतिक अवधारणा के बारे में सोचना मुश्किल है जो इतनी जटिल हो और जिसके बारे में बहुत कम विश्लेषणात्मक सहमति हो। कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जो बड़े पैमाने पर स्वीकार्य हो। कोई भी इसके आधुनिक या फिर पुरातन पक्ष को (राष्ट्रवाद पर लिखे गए किसी भी संग्रह में ) निर्णायक तौर पर पेश नहीं कर सका है और इस मसले पर एक दूसरे के विरोधी लेखक कहीं भी मिल जाएंगे जो विभिन्न और अस्पष्ट क्षितिज की तरफ घूमने लगेंगे बनिस्बत आमने-सामने जिरह करने के।" (बेनेडिक्ट एंडरसन, 'इंट्रोडक्शन' इन गोपाल बालकृष्णन. **मैपिंग द नेशन**)। उन्होंने यह भी कहा था कि राष्ट्रवाद की राजनीतिक ताकत उसकी दार्शनिक गरीबी से मेल खाती है। इसके साथ ही यह बात अंतर्निहित है कि आधुनिक दुनिया में राष्ट्रवाद द्वारा हासिल राजनीतिक शक्ति को हर कोई मान्यता देता है लेकिन इस बात पर बहुत कम सहमति है कि यह किसके लिए लाया गया। इसलिए आइये अब राष्ट्रवाद के उन अलग-अलग रास्तों की ओर चलते हैं जिसके बारे में समाज वैज्ञानिक अपनी समझ रखने के साथ उन्हें व्याख्यायित करते हैं।

## 1.4 राष्ट्रवाद के सिद्धांत

राष्ट्रवाद के विभिन्न सिद्धांतों पर प्रकाश डालने से पहले एक या दो सामान्य बिन्दुओं को सामने लाना जरूरी है। राष्ट्रवाद के सभी सिद्धांतकार इस बात से सहमत होंगे कि एक अवधारणा जो इतनी व्यापक है कि उसे किसी विशिष्ट या आंतरिक कारकों या समाज के भीतर सक्रिय कारकों से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है। इसे संतोषजनक तरीके से बाहरी या फिर बहिर्जात कारकों या किसी खास समाज के बाहरी कारकों के जरिये ही व्याख्यायित किया जा सकता है। राष्ट्रवाद के अगुवा विद्वान टॉम नैर्न कहते हैं कि " हालांकि यह बात सही नहीं है कि किसी भी प्रकार का राष्ट्रवाद सही में इन्हीं आंतरिक गतियों का उत्पाद है..... वेल्थ नेशनल-इज्म (नेशन पर जोर) वास्तव में वेल्थ के लोगों, उनके इतिहास, उत्पीड़न के उनके खास तरीके और इससे बची सारी चीजों की विशिष्टता के साथ होगा।

लेकिन वेल्थ नेषनल-इज्म (इज्म पर जोर)- इसमें आया सामान्य, सार्वभौमिक जरूरत वाला इस शब्द में हम लोगों को बहुत रुचि है- इसका वेल्थ से कुछ नहीं लेना-देना। ये वेल्थ की कोई सच्चाई नहीं है बल्कि सामान्य इतिहास के विकास का सत्य है। किसी खास समय पर वेल्थ की भूमि और उसके लोग ऐतिहासिक प्रक्रिया में इस तरह से रहने के लिए मजबूर किए गए। (टॉम नैर्न, *द ब्रेक अप आफ ब्रिटेन: क्राइसिस एंड नियो नेषनलिज्म*)।

राष्ट्रवाद के सिद्धांतकारों में मुख्य मतभेद इन बाहरी कारकों की पहचान को लेकर है। कुछ लोग राष्ट्रवाद को मानव समाज के विकास के आवश्यक चरण के तौर पर देखते हैं जिससे समाज का पहले या फिर बाद में गुजरना जरूरी है। जबकि दूसरे इसे ज्यादा सामान्य तरीके से देख सकते हैं जिसमें राष्ट्रवाद एक मानव भावना या पहचान के लिए एक बड़ी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक जरूरत या एक बड़ी पूर्णता के साथ पहचाने जाने की इच्छा है। लेकिन सब इस बात से सहमत होंगे कि राष्ट्रवाद की अवधारणा एक व्यापक, देश के पार, सामान्य व्याख्या रखती है। अगर राष्ट्रवाद को किसी साझे लक्षणों, विभिन्न समाजों के अनुभवों - आमतौर पर एक ही समय (18वीं-20वीं सदी) - के आधार पर पहचाना जाए तब इसकी कुछ सामान्य व्याख्या जरूर होनी चाहिए।

हालांकि सिद्धांतकारों में समानताएं यहीं खत्म हो जाती हैं। सिद्धांतकार एक सिद्धांत की जरूरत की बात से सहमत हो सकते हैं लेकिन सिद्धांतों के विषय से कत्तई नहीं। वो राष्ट्रवाद के लिए विविध तरह की व्याख्याएं सामने ले आते हैं। इन मतभेदों को द्विचारों के जरिये समझा जा सकता है। ये दोहरे विचार राष्ट्रवाद को एक दुर्घटना से लेकर एक महान मानवीय जरूरत के दायरे तक ले जाते हैं। यह या तो जरूरत या आकस्मिक, विचारों का उत्पाद या भौतिकवादी, या तो झूठी चेतना या महान मानवीय आकांक्षा या कुछ खास सामाजिक समूहों या ढांचों द्वारा लाया गया। लेकिन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण द्विचार आधुनिकतावादी और गैर आधुनिकतावादी है। आइये इस द्विचार पर कुछ विस्तार से चर्चा करते हैं।

### 1.4.1 गैर आधुनिकतावादी सिद्धांत

जहां तक राष्ट्रवाद के सिद्धांत का संबंध है, संभवतः आधुनिकतावादी तथा गैर आधुनिकतावादी सबसे बड़ी विभाजक रेखा है। आधुनिकतावादी राष्ट्रवाद को एक आधुनिक परिघटना तथा पिछली तीन सदी से भी कम अवधि के घटनाक्रम के रूप में देखते हैं। इस विभाजक रेखा की दूसरी तरफ गैर आधुनिकतावादी हैं, जो राष्ट्रवाद को समझने के लिए इस आधुनिक दौर की विशेष स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं दिखते हैं तथा वो मानते हैं कि इसे समझने के लिए इससे भी ज्यादा समय की दरकार है। उनका तर्क है कि यह एक ऐसा घटनाक्रम है जिसकी जड़ें बेहद गहरी हैं। राष्ट्रवाद के रूप में जो घटनाक्रम मानवीय जीवन में बड़ी ही जटिलता के साथ गुंफित है, उसका सृजन इतने कम समयांतराल में नहीं हो सकता है, निष्चित रूप से इसका विकास एक लंबे कालक्रम में ही संभव है।

इस चरण में यह आवश्यक है कि आधुनिकतावादी तथा गैर आधुनिकतावादी दोनों ही व्याख्याओं को उभारा जाए, जो आंतरिक रूप से एक दूसरे से पूरी तरह अलग हैं। आधुनिकतावादी होने के अलावे सभी आधुनिकतावादियों के बीच किसी और तरह की सहमति नहीं है। इसी तरह गैर आधुनिकतावादियों के बीच भी कमोबेश यही स्थिति है। उन्हें आसानी से विकासवादियों, प्रकृतिवादियों तथा निरन्तरतावादियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रकृतिवादी राष्ट्र को कुछ कुछ प्राकृतिक जैसा देखते हैं, जिसे मानव मस्तिष्क सहज ही स्वीकारता है। राष्ट्रवाद को वो बेहद प्राकृतिक भावना के रूप में देखते हैं। इस

समझ के आधार पर, लोगों के लिए राष्ट्रवादी होना किसी हद तक स्वाभाविक है। चूंकि वो इसे प्राकृतिक मानते हैं, इसलिए उन्हें किसी भी तरह की अन्य व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए एक बड़े विद्वान के इस उद्धरण को उद्धृत किया जा सकता है कि राष्ट्रवाद "एक मानसिक दषा" है। प्रकृतिवादी राष्ट्रवाद के उत्थान या विकास या उभार जैसे शब्द का इस्तेमाल नहीं करते हैं। वो हमेशा लोगों के दिल-ओ-दिमाग में राष्ट्रवाद की असीम तथा स्थायी भावना की चर्चा करते हैं। इसलिए राष्ट्रवाद की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इस राष्ट्रवादी दृष्टिकोण पर राष्ट्रवाद नहीं बल्कि इसकी गैरमौजूदगी है, जिसकी व्याख्या की जानी है।

इन प्रकृतिवादियों के आस-पास ही निरन्तरता की स्थिति भी है। राष्ट्रवादियों में यह दृष्टिकोण अक्सर ही पाया जाता है। राष्ट्रवाद के विचारक तथा उसे मानने वाले हमेशा अपने इतिहास में पूर्ण निर्मित रूप में राष्ट्रवाद के अपने ब्रांड को बनते देखना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, पाकिस्तानी राष्ट्रवाद के विचारक तथा प्रचारक मोहम्मद अली जिन्ना 1940 के बाद अक्सर यह कहते हुए पाये गए कि मुस्लिम राष्ट्रवाद किसी हाल फिलहाल का राजनीतिक विकास नहीं है, बल्कि मुस्लिम राष्ट्र का अस्तित्व मध्यकाल से ही रहा है। जब जिन्ना से उनके मुस्लिम राष्ट्र के सही स्थान तथा उसके अस्तित्व में आने को लेकर सवाल पूछा गया तो उन्होंने एक दिलचस्प उत्तर दिया, 'पाकिस्तान पहले से ही लंबे समय से अस्तित्व में था, ऐसा नहीं कि पाकिस्तान किसी हालिया दौर की धारणा है'। उन्होंने अपने भाषण में इसे और ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहा, 'पाकिस्तान हिन्दुओं के आचरण या दुराचरण का नतीजा नहीं था। यह हमेशा से ही मौजूद था। सिर्फ मुसलमान ही इसे लेकर सचेत नहीं था। पाकिस्तान तो उसी क्षण अपने अस्तित्व में आ गया, जब मुस्लिम शासन स्थापित होने के बहुत पहले गैर मुसलमान का धर्मांतरण हुआ... इस पूरे दौर में हिन्दू हिन्दू ही रहा और मुसलमान मुसलमान ही रहा, उन्होंने अपना वजूद बनाये रखा—यही पाकिस्तान का आधार था' (अलीगढ़ में जिन्ना का भाषण, मार्च 1944, खुर्शीद अहमद खान युसूफी (संपादित), स्पीचेज, स्टेटमेंट्स एण्ड मेसेज ऑफ कायद-ए-आजम, वोल्यूम 3, पृष्ठ संख्या 1840-41)। यह एक 'आविष्कृत परंपरा' के रूप में राष्ट्रवाद का एक शास्त्रीय उदाहरण था।

इस अवस्था में, इस अंतर को सामने लाना बेहद जरूरी हो जाता है कि आखिर राष्ट्रवादी स्थिति क्या थी और राष्ट्रवाद पर क्या स्थिति थी। सभी देशों के पास एक 'अपनी छवि' होती है, जिसे राष्ट्रवादी विचारक या नेता गढ़ते हैं। इस पहचान को हमारे लिए समझना बेहद महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे हमें उस राष्ट्र विशेष के बारे में कई मालूमात हसिल होते हैं। लेकिन ठीक इतना ही महत्वपूर्ण हमारे लिए यह है कि इसे हम आवश्यक रूप से वैध करार नहीं दें। अन्य शब्दों में, राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद को वास्तविक एवं शक्तिषाली सामाजिक घटनाक्रम के रूप में समझा जाना चाहिए, राष्ट्रवादियों द्वारा अपने बारे में कही जाने वाली कहानियों से वास्तविकता बिल्कुल अलग होती है। राष्ट्रवाद पर किये गए विद्वतापूर्ण शोध में, निरन्तरता वादियों की स्थिति को समझा गया है तथा उसे 'आविष्कृत परंपरा' के रूप में व्याख्यायित किया गया है। 'आविष्कृत परंपरा' क्या है? 'आविष्कृत परंपरा' का विचार निम्नलिखित अर्थ देता है:

- 1) राष्ट्रवादी अतीत तथा परंपरा का इस्तेमाल तथा उससे प्रेरणा हासिल करते हैं ताकि वो अपने राष्ट्रवादी परियोजनाओं को वैधता दे सकें।
- 2) वो अपने राष्ट्र के लिए अतीत, इतिहास तथा परंपरा में भी इसकी उपस्थिति या अतीत से इसकी निरंतरता का दावा करते हुए इसकी वैधता का दावा करते हैं।
- 3) इस तरह के दिखावे में परंपरा को उस तरह नहीं दिखाया जाता है, जैसी वो थी, बल्कि परंपरा की यह शक्ल या तो अविष्कृत होती है या कृत्रिम होती है। परंपरा का

आविष्कार कुछ इस तरह किया जाता है कि उसका इस्तेमाल राष्ट्रवादियों के समर्थन में किया जा सके। जिन्ना मुस्लिम राष्ट्र को न्यायोचित सिर्फ इस आधार पर ठहरा सके कि हिन्दू और मुसलमान के बीच किसी तरह का कोई संबंध ही नहीं था तथा यही कारण था कि भारतीय इतिहास में मुस्लिम राष्ट्र का अस्तित्व लंबे समय से रहा है। इस तरह परंपरा तथा अतीत का उपयोग एक पूर्ण आधुनिक 'मुस्लिम राष्ट्र' की वैधता के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा। परंपरा की व्याख्या उस तरह नहीं की जा रही थी, जिस तरह वो थी, उसकी व्याख्या कुछ उस तरह की जा रही थी कि जिसका इस्तेमाल इस 'मुस्लिम राष्ट्र' को वैधता दिलाने में सहायक हो। इस उद्देश्य के लिए परंपरा की 'खोज' की जा रही थी। 'अविष्कृत परंपरा' की अवधारणा प्रमुख इतिहासकार एरिक हॉब्सबाम द्वारा रखी गई तथा राष्ट्रों तथा राष्ट्रवाद की प्रकृति को समझने के लिए यह अवधारणा एक महत्वपूर्ण संकल्पना रही है। अभी तक अन्य महत्वपूर्ण गैर आधुनिकतावादी स्थिति विकासवादियों की है। यह आधुनिक काल में राष्ट्रवाद की व्यापक उपस्थिति को स्वीकार करता है, लेकिन इसका तर्क है कि इसकी व्याख्या मानव इतिहास के पूर्व आधुनिक काल से गुजरते हुए की जा सकती है। यह तर्क पूर्व उपस्थित संस्कृतियों, विरासतों तथा विभिन्न अन्य नैतिक संधियों, भावनाओं एवं सामूहिक स्मृतियों पर केन्द्रित है, जो 'पीढ़ी-दर-पीढ़ी' एक दूसरे के साथ बढ़ती है तथा इस तरह इसका योगदान आधुनिक काल में राष्ट्र के उभार में होता है। उदाहरण के लिए आधुनिक यूनानी राष्ट्रवाद की रूपरेखा तथा उसकी प्रकृति को बिजैन्टाइन के उपनिवेशवाद तथा शास्त्रीय परंपरा जैसे दोनों काल को केन्द्रित करते हुए व्याख्या की जा सकती है। इस दृष्टिकोण के सबसे बड़े व्याख्याकारों में एंथोनी डी. स्मिथ हैं। यह दृष्टिकोण किसी व्यापक तथा सामान्य संरचना की तरफ नहीं देखता, बल्कि प्रत्येक समाज की खास विशेषता पर ध्यान देता है। इसे इस बात से बहुत लेना देना नहीं है कि सभी देशों में सामान्य क्या है, बल्कि इस बात पर ज्यादा ध्यान है कि प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से किस बात में भिन्न है।

#### 1.4.2 आधुनिकतावादी सिद्धांत

राष्ट्रवाद को समझने को लेकर गैर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण के विरोध में आधुनिकतावादी दृष्टिकोण हैं। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि सभी आधुनिकतावादी एक दूसरे से सहमत नहीं हैं तथा आधुनिकतावादी भी एक दूसरे से उतने ही भिन्न हैं, जितना कि गैर आधुनिकतावादी। शुरुआती आधुनिकतावादी तर्कों में से एक को स्थापित करने वालों में एली कड्युरी थे। उन्होंने अपने तर्कों की स्थापना 1961 में की थी। एली कड्युरी ने राष्ट्रवाद को एक सिद्धांत के रूप में देखा तथा उन्होंने इसे आधुनिक यूरोप के बौद्धिक इतिहास में गहरे रूप में महसूस भी किया। इस किताब का पहला वाक्य स्वयं स्पष्ट करता है: 'राष्ट्रवाद का सिद्धांत 19वीं सदी के शुरुआत में यूरोप में आविष्कृत किया गया था।' (एली कड्युरी, राष्ट्रवाद, पृष्ठ संख्या 1) यह राष्ट्रवाद की एक असंरचनात्मक व्याख्या थी, जिसके मुताबिक राष्ट्रवाद की जड़ें गहरी हैं, न कि इसकी कोई ठोस संरचनाएं हैं और न ही विशेष शर्तें हैं, लेकिन ऐसा सिर्फ यूरोपियन विचारकों के विचारों तथा सिद्धांतों में था। कड्युरी के सिद्धांत के मुकाबले एक प्रभावशाली विकल्प गेलनर द्वारा दिया गया, जिसके माध्यम से संरचनात्मक व्याख्या संभव थी।

गेलनर ने राष्ट्रवाद के उद्भव को कृषि से औद्योगिक संसार में रूपांतरण के एकीकृत हिस्से के रूप में देखा। इस लिहाज से उनका इतिहास संरचनात्मक तथा भौतिकतावादी दोनों है। यह संरचनात्मक इस लिहाज से है कि उसे उन्होंने किसी व्यक्तिविशेष तथा किसी खास समूहों की गतिविधियों के परिणाम के रूप में नहीं देखते, बल्कि उन्होंने इसे शक्ति तथा



संस्कृति की नयी अंतःक्रिया को सृजित करने वाले नये आर्थिक तथा उत्पादक बलों के सामने आने के रूप में देखा। उनका सिद्धांत उस दृष्टिकोण से भौतिकतावादी था, क्योंकि राष्ट्रवाद के उभार में आधारभूत प्रेरणा के रूप में इसमें विचार तथा सिद्धांत नहीं दिखता है। यह राष्ट्रवाद को नये आर्थिक बलों के संचालन के उत्पाद के रूप में देखता है। राष्ट्रवाद के गेलनर सिद्धांत का सार संक्षेप कुछ इस तरह है:

यह स्पष्ट नहीं कि किस कारण से एक नई, विशेष तथा अभूतपूर्व तरह की अर्थव्यवस्था उभरी तथा 18वीं सदी के अंत एवं 19वीं सदी की शुरुआत के आस-पास यूरोप के अटलांटिक तट पर यह अर्थव्यवस्था स्थापित हुई। यह नई अर्थव्यवस्था आम तौर पर औद्योगिक अर्थव्यवस्था कहलायी, इसमें पहले की अर्थव्यवस्था के मुकाबले कुछ अद्भुत विशेषताएं थीं। एक तो यह अनवरत विकास पर आधारित थी। वास्तव में, यह अर्थव्यवस्था तभी कायम रह सकती थी, जब यह विकसित होती रहे। इस विकसित होती अर्थव्यवस्था ने पुरानी व्यवस्था के स्थायित्व को पूरी तरह खत्म कर दिया। दूसरा कि यह लगातार चलती रहे, इसके लिए जरूरी थी संपूर्ण या स्पष्ट साक्षरता। इस साक्षरता को एक समतामूलक प्रकार का होना था ताकि बड़ी संख्या में अज्ञात तथा एक दूसरे से अपरिचित लोग परस्पर संवाद कर सकें। तीसरा कि इसमें एक उल्लेखनीय गतिशीलता भी थी, व्यावसायिक तथा स्थानीय दोनों तरह की गतिशीलता थी। बड़ी संख्या में लोग अपने पारंपरिक कारोबार, निवास स्थान तथा संस्कृतियों से बेदखल कर दिये गए। इस नई अर्थव्यवस्था के कार्यकलाप के परिणामस्वरूप वे अपने संगठित समुदाय से अलग-थलग कर दिये गए तथा एक ऐसी स्थिति में डाल दिये गए, जो न उनके लिए परिचित थी और न ही उससे उनका कोई लगाव था। चौथा कि नई अर्थव्यवस्था समतावाद पर आधारित थी। यह नई अर्थव्यवस्था एक ऐसे तूफान की तरह आयी, जिसकी विषाल लहरों से प्रतिष्ठा तथा हैसियत पर आधारित पदानुक्रम भी तहस नहस हो गया। इसने पुरानी संस्कृति, पुरानी संरचनाओं, पुराने पदानुक्रम को नष्ट कर दिया तथा पुराने समुदाय को भी अलग-थलग कर दिया। इस नयी व्यवस्था की गतिशीलता तथा उसके अपरिचित होने के अहसास ने समतावाद के लिए हालात पैदा कर दिये। पांचवां कि पुरातनता और संभ्रांतों की उच्च संस्कृति का संरक्षण नई अर्थव्यवस्था के लिए पूर्णतः तर्कसंगत नहीं रह गयी थी। नई स्थिति के अंतर्गत, संभ्रान्तों की उच्च संस्कृति अब सिर्फ मुठ्ठीभर लोगों की कैद में नहीं रह सकी। इसमें अन्यों ने भी भागीदारी की तथा उसे और व्यापक होना था। परिणामस्वरूप, बहुस्थानीय लोक संस्कृति तथा विशेष उच्च संस्कृति दोनों के लिए बने रहना मुश्किल हो गया एवं दोनों का रूपांतरण एक व्यापक तथा सहभागिता वाली उच्च संस्कृति में हो गया।

नई अर्थव्यवस्था को आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का साथ मिला तथा यह इतनी शक्तिशाली थी कि पुरानी व्यवस्था पूरी तरह खत्म हो गई और समय के साथ इसकी जगह एक नई सामाजिक व्यवस्था ने ले ली। यूरोपीय समाज (जो क्रम तथा हैसियत पर आधारित था) में प्रारंभिक विभेद खत्म हो गए तथा उनकी जगह संस्कृति पर आधारित एक नई सीमा रेखा बन गई। नई संस्कृति (प्रारंभिक व्यापक उच्च संस्कृतियों तथा स्थानीय लोक संस्कृति पर आधारित) इन समाजों में विकसित हुई तथा ज्यादातर सदस्य, प्रारंभिक संस्कृति के प्रवाह से वंचित किये गए लोग थे, जिन्हें नई संस्कृति में शामिल किया गया। ठीक इसी तरह, राज्य की भूमिका भी बेहद महत्वपूर्ण हो गई। नया आर्थिक संसार इतना विषाल हो गया कि इससे सिर्फ राज्य होकर ही प्रभावशाली तरीके से निपटा जा सकता था। राज्य इसे सिर्फ इस कारण बनाये रख सका, क्योंकि इसे लोगों का समर्थन हासिल था। इस प्रभावशाली राज्य-समाज भागीदारी को तभी तक बनाये रखा जा सकता था, जबतक कि इसके सदस्य समान संस्कृति वाले हों। इसलिए यह आवश्यक था कि राज्य समाज का प्रतिनिधित्व करे। यह सभी एक नई तरह की व्यवस्था के लिए था :

- सामान्य लोग, जो अपनी सांस्कृतिक जड़ों से बिछड़ गए थे, अब वो नई उच्च संस्कृति के सदस्य के रूप में सम्मान के साथ जीवन यापन कर सकते थे। नई उच्च संस्कृति के संरक्षण और उसके प्रोत्साहन की जिम्मेदारी सिर्फ राज्य की थी। लेकिन यह तभी संभव था, जब लोग और राज्य दोनों की संस्कृति एक हो। नतीजतन, राज्य लोगों के प्रतिनिधि के रूप में आवश्यक था तथा दोनों एक ही सांस्कृतिक समूह से होने थे।
- यह नई अर्थव्यवस्था इतनी विषाल थी कि बिना एक विषाल संख्या में लोगों की हिस्सेदारी से यह प्रभावशाली तरीके से चल ही नहीं सकती थी। लेकिन लोगों को अपनी नई भूमिका तथा उनके नये काम में फिट होने के लिए उन्हें प्रशिक्षित करना जरूरी था। इसलिए शिक्षा बेहद आवश्यक हो गई। इस शिक्षा को विभिन्न वर्गों के बीच समान रूप पहुंचाया जाना था तथा स्वाभाविक था कि इसे प्रभावशाली रूप से अंजाम देने के लिए राज्य की भूमिका अनिवार्य थी। इसलिए राज्य बहुत महत्वपूर्ण हो गया। सामान्य शिक्षा देने की प्रक्रिया में राज्य ने समतामूलक कारकों का इस्तेमाल किया, जिससे सामान्य संस्कृति से बंधे सांस्कृतिक समुदाय (या समुदायों) के सृजन में सहायता मिली।
- राज्य इस जिम्मेदारी को आगे नहीं बढ़ा सकता था, जबतक कि लोगों का साथ और समर्थन नहीं मिले। यह आवश्यक था कि लोग राज्य से जुड़ें तथा राज्य तथा लोगों के जुड़ाव के बीच संबंधों तथा समुदायों पर आधारित किसी भी तरह का मध्यस्थ नहीं हो। दूसरे शब्दों में, लोगों को नागरिक होना चाहिए तथा प्रत्यक्ष रूप से राज्य के प्रति जिम्मेदार होना चाहिए। इन सभी प्रक्रियाओं के संचालन में, राष्ट्रवाद अनिवार्य तथा वांछित परिणाम के रूप में सामने आया। आधुनिक अर्थव्यवस्था के लिए यह जरूरी है; आधुनिक राज्य के लिए यह जरूरी है; इस समाज के लिए यह आवश्यक है। यही राष्ट्रवाद की गेलनर की व्याख्या का सार है।

गेलनर ने राष्ट्रवाद को लेकर एक विष्वसनीय सिद्धांत उपलब्ध कराया। लेकिन इस सिद्धांत के साथ सबसे बड़ी समस्या है कि इस सिद्धांत का जुड़ाव भारत या सही मायने में अन्य उपनिवेशों के विकास के मामलों के साथ नहीं हो पाया। गेलनर के सिद्धांत की सबसे बड़ी ताकत घटनाक्रम की वैश्विक प्रकृति पर उसकी बहुत अच्छी पकड़ है। हालांकि यह सिद्धांत एशिया तथा अफ्रीका के औपनिवेशिक समाज के राष्ट्रवादी अनुभवों को पर्याप्त रूप से व्याख्या करता प्रतीत नहीं होता है। लेकिन सही मायने में कहा जा सकता है कि यह सिद्धांत पूरी तरह पश्चिमी यूरोप के अनुभवों के आधार पर निर्मित था तथा बाद में सभी मानवमात्र के लिए वैध रूप में व्यापक हो गया। लेकिन क्या ऐसा कोई सिद्धांत है, जो औपनिवेशिक समाज की व्याख्या न्यायोचित तरीके से करे? इस सवाल के जवाब के रूप में टॉम नैर्न सामने आते हैं। अपनी किताब, 'ब्रेक-अप ऑफ ग्रेट ब्रिटेन' में टॉम नैर्न ने राष्ट्रवाद की व्याख्या औद्योगिक यूरोपीय समाज के लिहाज से नहीं बल्कि औपनिवेशिक समाजों के ख्याल से की है।

टॉम नैर्न आधुनिकतावादी होने के साथ साथ सार्वभौमवादी भी हैं। वह आधुनिकतावादी इस तरह से हैं कि उनकी नजर में राष्ट्रवाद पिछली दो सदियों की उपज है। वह सार्वभौमवादी इसलिए हैं क्योंकि वह राष्ट्रवाद को आधुनिक विष्व के सामान्य ऐतिहासिक विकास की खासियत के रूप में देखते हैं। उनके लिए, राष्ट्रवाद मानव विकास के किसी खास चरण का एक अनिवार्य तथा एकीकृत परिणाम है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाये तो नैर्न राष्ट्रवाद को विष्व तथा पूंजीवाद में अंतर्निहित असमान अविकास के पूंजीवादी रूपांतरण के रूप में देखते हैं। इस सिद्धांत का सार संक्षेप कुछ इस तरह है:

18वीं सदी के आखिर तक यूरोप के कुछ निश्चित क्षेत्रों में विष्व पूंजीवाद का उदय हुआ, जिसने 'समान विकास' के मिथक को जन्म दिया। यह मिथक था कि पूंजीवाद धीरे धीरे पूरे विष्व को अपने आगोष में ले लेगा। लेकिन सच्चाई यही थी कि ऐसा होना संभव ही नहीं था। पूंजीवाद को दरअसल एक 'अभिकेन्द्र' (यूरोप के कुछ विकसित पूंजीवादी देश) को सृजित करते हुए तथा नये औद्योगिक पूंजीवादी विष्व अर्थव्यवस्था के बाहर के क्षेत्र को परिधि के रूप में विकसित करना था जो अभिकेन्द्र की सेवा में था।

इस परिधि (एशिया और अफ्रीका के औपनिवेशिक समाज) में जल्द ही असमानता के तीव्र अपमान को महसूस किया गया। इन समाजों के संभ्रांत ने शीघ्र ही कहना शुरू कर दिया कि इस प्रकार की 'प्रगति' का मतलब उनके लिए उपनिवेशवादी 'वर्चस्व' है। इसके अलावा, यह वर्चस्व सिर्फ शासकों और शासन के द्वारा था, जो विदेशी या बाहरी थे। दूसरे शब्दों में, पूंजीवाद ने उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की एक प्रणाली का सृजन किया। यह इस सोच के साथ था कि मानवतावाद के आगे बढ़ने का पर्याय 'पश्चिमीकरण' था। औपनिवेशिक समाज में, संभ्रांतों ने माना कि नये तंत्र में उनकी खास जगह है तथा इस तंत्र में उनका शामिल होना बिल्कुल संभव नहीं था। उपनिवेश में लोगों की एक बड़ी संख्या को शासन के इस नये खेल से अलग रखना था। इस नये तंत्र में उनका सिर्फ शोषण होना था और किसी भी अवस्था में उनकी हिस्सेदारी नहीं होनी थी।

इस तरह औपनिवेशिक समाज में संभ्रांतों के सामने स्पष्ट हो गया कि पूंजीवाद के दो चेहरे थे। एक ओर जहाँ यूरोपीय संसार में इससे धन-दौलत, समृद्धि तथा गतिशीलता आयी, दूसरी ओर इससे आर्थिक विषमता तथा उपनिवेश के लोगों का राजनीतिक शोषण भी हुआ। राष्ट्रवाद इसी स्थिति के खिलाफ एक प्रतिक्रिया था। औपनिवेशिक समाज के संभ्रांतों को वर्चस्व, शोषण तथा विलगन वाली इस स्थिति के खिलाफ होने वाले प्रतिरोध को संगठित करने के लिए पहल करनी पड़ी। इसका मतलब एक ऐसे राष्ट्रीय समुदाय के संगठन, उनकी गतिशीलता तथा उनका निर्माण से था, जो किसी भी तरह के विभेदकारी चरित्र से ऊपर हो तथा उसे इस समुदाय की पहचान पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सके। इन संभ्रांतों के पास कोई आधुनिक आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाएं नहीं थी, जिनके साथ मिलकर इस समुदाय को निर्माण करते। इसलिए इसे साझे विरासत वाले अतीत, भाषण, लोक गीत, चमड़ी के रंग आदि के आधार पर किया जाना था। 'राष्ट्रवाद के इस नये मध्यवर्ग बौद्धिकों को इतिहास में जनसमूह को शामिल करना था: तथा इसके लिए बनाये जा रहे आमंत्रण की भाषा भी वही होनी थी, जिसे सामान्य जनसमूह समझ सके। इस तरह लोगों की भाषा पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इस नये जज्बे ने संभ्रांतों को बड़े पैमाने पर सामान्य जनता से जोड़ दिया तथा विदेशी वर्चस्व के खिलाफ आम लोगों को एकजुट कर दिया एवं इस वर्चस्व से मुक्ति पाने के लिए उन्हें एकजुटता प्रदान करते हुए एक सामान्य संघर्ष के साथ जोड़ दिया। राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद के खिलाफ संभ्रांतों तथा जनमूहों के संयुक्त संघर्ष की प्रक्रिया का एक स्वाभाविक उपज था।

यही टॉम नैन के सिद्धांत का वास्तविक सार है। जैसा कि आप देख सकते हैं, राष्ट्रवाद की यह एक आवश्यक आधुनिकतावादी समझ है, लेकिन अन्य आधुनिकतावादी समझ से यह बहुत भिन्न है, जिनका ध्यान यूरोप पर केन्द्रित होता है। जैसा कि आप पाते हैं टॉम नैन राष्ट्रवाद के भारतीय अनुभव के बेहद करीब हैं। उनका सिद्धांत सामान्य रूप से उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवाद तथा खासकर भारतीय राष्ट्रवाद के लिए एकदम सटीक है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमें आवश्यक रूप से न सिर्फ इस बड़े सिद्धांत के बारे में चर्चा करना चाहिए, बल्कि राष्ट्रवाद के अन्य विभिन्न सिद्धांतों के बारे में भी बातें करनी चाहिए। उन सिद्धांतों के बारे में भी जो आधारभूत संकल्पना या प्रासंगिता के बारे में

बातें करते हैं (जैसा कि आधुनिकतावादी करते हैं), ये सिद्धांत राष्ट्रवाद की परिघटना के लिए एकदम अलग व्याख्या देते हैं। कुछ विचारों तथा सिद्धांतों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तथा कुछ का ध्यान ठोस प्रक्रियाओं पर होता है। कुछ राष्ट्रवाद को पूंजीवाद के हृदय के भीतर से उत्पन्न हुआ मानते हैं तथा कुछ इसे पूंजीवाद के विषम विस्तार के परिणाम तथा साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रति एक प्रतिक्रिया के रूप में देखते हैं। सिद्धांतों में इस तरह की भिन्नता स्वाभाविक है। राष्ट्रवादी अनुभव इतने भिन्न-भिन्न हैं कि किसी भी एकलौते सिद्धांत से उम्मीद नहीं की जा सकती है कि सभी तरह की स्थितियों की व्याख्या कर सके।

## 1.5 भारतीय राष्ट्रवाद

भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में क्या खयाल है ? क्या यह स्थापित सिद्धांतों के खांचे में सटीक बैठता है या इसे अपने आप में एक भिन्न सिद्धांत की दरकार है ? सबसे अच्छा होगा कि भारतीय राष्ट्रवाद पर सामान्य रूप में राष्ट्रवाद के विशेष अध्ययन (केस स्टडी) के रूप में ही नहीं बल्कि महत्वपूर्ण और विशेष केस स्टडी के रूप में नजर डाला जाए। जरूरी नहीं है कि भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या के लिए किसी अलग सिद्धांत का निर्माण किया जाए, बल्कि राष्ट्रवाद को लेकर प्रचलित सामान्य सिद्धांत के प्रारूप में थोड़ा बहुत फेरबदल करना होगा ताकि भारतीय केस स्टडी को सुविधाजनक बनाया जा सके। संभवतः भारतीय अनुभव के इन दो कारकों पर अलग से नजर डाला जाए—ये दो कारक हैं—भारतीय घटक (विशेष) तथा राष्ट्रवादी घटक (सामान्य)। इन दोनों कारकों को इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद के रूप में और भारतीय राष्ट्रवाद के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

सामान्य कारक पर पहले गौर करते हैं। आवश्यक है कि भारतीय राष्ट्र के आधुनिकता पर खास तौर पर दृष्टिपात किया जाये। यद्यपि भारत पुरानी सभ्यता वाला समाज है, जिसका सदियों पुराना अनवरत इतिहास है, लेकिन भारतीय राष्ट्र एक आधुनिक परिघटना है। अतीत में भारत के विषाल भूभाग पर कई बड़े साम्राज्यों का शासन रहा (मौर्य, गुप्त, मुगल) तथा इन राजवंशों के शासन की निरंतरता ने पूर्व आधुनिक काल के दौरान भारतीय पहचान को बनाने में बड़ी सहायता की। यह कहना सही नहीं होगा कि 19वीं सदी से पहले किसी तरह का कोई भारतीय राष्ट्र था। इसलिए जहां एक भारतीय समाज या भारतीय सभ्यता निष्चित रूप से अस्तित्व में था, वहीं भारतीयों के राष्ट्रीय समुदाय के रूप में कोई पहचान नहीं थी। 19वीं तथा 20वीं सदी में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शर्तों के अंतर्गत भारतीय राष्ट्रवाद के विचार द्वारा एक भारतीय राष्ट्र की संकल्पना सामने आयी। इसलिए हम कह सकते हैं कि इतिहास के एक चरण के संदर्भ में राष्ट्रवाद की सामान्य व्याख्या भारतीय राष्ट्रवाद को समझने के लिए भी प्रासंगिक होगी। भारतीय राष्ट्रवाद प्रजातीय या धार्मिक की अपेक्षा क्षेत्रीयता वाला था। इसका मतलब था कि भारतीयता को लेकर किया जाने वाला दावा क्षेत्रीयता के आधार पर था, न कि धार्मिक आधार पर। जो कोई भी भारत की भूमि पर रहता था, उसे राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य माना गया। इस समुदाय के पास न तो कोई समान संस्कृति थी और न ही कोई समान भाषा थी (जिस तरह स्टालिन की परिभाषा में इसे दर्शाया गया), जो उसे राष्ट्रीय समुदाय बनने में सहायक सिद्ध होते, लेकिन उनके पास ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतर्गत होने वाला समान आर्थिक शोषण जरूर था।

कुछ सामान्य विशेषताओं से अलग, भारतीय राष्ट्रवाद में कुछ अपनी तरह की खासियतें थीं। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में, कुछ ब्रिटिश विद्वान तथा नृवैज्ञानिक द्वारा भारतीय बौद्धिक वर्गों को लगातार कहा जा रहा था कि भारतीय राष्ट्र न कभी था और न कभी हो सकता था। ब्रिटिश विद्वानों में से एक जॉन स्ट्रेची ने अपनी किताब, *इंडिया: इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड*

प्रोग्रेस (1888) में लिखा है: 'भारत को समझने के लिए यह पहला तथा सबसे जरूरी चीज है— कोई भारत था ही नहीं या भारत नामक देश का कोई अस्तित्व रहा ही नहीं, यूरोपीय विचारों के आधार को अपनाते हुए उन्होंने कहा कि किसी भी तरह की एकता, भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक यहां है ही नहीं, भारत राष्ट्र नाम की कोई चीज नहीं है और न ही भारत के लोग जैसा कोई विचार है, जिसके बारे में हम लोग हमेशा सुनते हैं।' इसी तरह जॉन सेली ने अपनी किताब, 'द एक्सपैन्शन ऑफ इंग्लैण्ड (1833)' में लिखा: 'भारत नामक राष्ट्र की कल्पना एक भूल पर आधारित है तथा राजनीति विज्ञान का लक्ष्य इसे नष्ट कर देने का होता है। भारत कोई राजनीतिक नाम नहीं है, बल्कि सिर्फ यूरोप या अफ्रीका की तरह एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। यह एक राष्ट्र के भूभाग तथा एक भाषा को रेखांकित नहीं करता है, बल्कि यह कई राष्ट्रों तथा भाषाओं के भूभाग को दर्शाता है'। इन शब्दों में व्यापक रूप से भारतीय राष्ट्र की अंतर्निहित असंभावना को उभारा गया। भारत सिर्फ एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' के रूप में चिह्नित किया गया। भारत पर ब्रिटिश औपनिवेशिक बहस भारत की संस्कृति, भाषायी तथा धार्मिक विविधता पर जोर देती थी तथा इस विविधता को भारतीय राष्ट्रवादिता के विकास में एक बड़ी बाधा के रूप में देखती थी। इस तरह की बातों पर प्रतिक्रिया करने का एक तरीका अतीत में भारतीयों की पौराणिक एकता की तरफ लौटना हो सकता था। लेकिन ज्यादातर भारतीय बौद्धिक 'राष्ट्र नहीं होने' के आरोप को 'सदा से एक राष्ट्र होने' की मुखरता से जवाब देने की शैली से बचते रहे। वो अन्य सीमा से बाहर कभी नहीं गए। बिपिन चंद्र लिखते हैं: 'भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को शुरू करने वाले 19वीं सदी के बौद्धिकों ने कभी भी ब्रिटिश सरकार के इस रुख से इन्कार नहीं किया कि भारत कभी राष्ट्र ही नहीं था। वे लगातार स्वीकार करते रहे कि भारत अभी तक एक सामान्य इतिहास, भूगोल तथा सामान्य संस्कृति के तत्वों के बिना एक राष्ट्र के रूप में निर्मित नहीं हो सका था। वे यह भी स्वीकार करते थे कि राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद अतीत में भी भारत में वजूद में नहीं थे। वे इस बात को मानते थे कि भारत में बहुल पहचान का अस्तित्व है तथा भारत में एकरूपता नहीं है। वे यह भी स्वीकार करते थे कि राष्ट्र कोई स्वाभाविक या अनिवार्य परिघटना नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक सृजन है। लेकिन वे इस बात से इन्कार करते थे कि भारत एक राष्ट्र नहीं हो सकता। वे साम्राज्यवादी व्यंग्यों का करारा जवाब इस दावे से देते थे कि ऐतिहासिक ताकतें भारतीयों को एक साथ लाकर उन्हें आपस में जोड़ रही हैं तथा भारत अब एक राष्ट्र होने की प्रक्रिया में प्रवेश कर गया है। वे कहते थे कि भारत एक राष्ट्र बनने की प्रक्रियाधीन है, जिसका उद्घरण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की आत्मकथा का शीर्षक है'। (बिपिन चंद्र, 'द मेकिंग ऑफ द इंडियन नेशन', इंडिका, मार्च 2014, पृष्ठ संख्या 21)।

और इसलिए 19वीं सदी के भारतीय चिंतकों के चिंतन की एक महत्वपूर्ण विशेषता राष्ट्र तथा सभ्यता के बीच फर्क करना था तथा भारतीय राष्ट्र की नवीनता को उभारना था। वे तर्क देते थे कि भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है, लेकिन यह एक नया राष्ट्र है। यहां तक कि जो नेता भारतीय सभ्यता की सर्वोच्चता की स्थापना में लगे रहते थे तथा भारत के अतीत को महिमामंडित करते नहीं थकते थे, वे भी भारतीय राष्ट्र की नूतनता को स्वीकार करते थे। स्वामी विवेकानंद ने 1896 में कहा : 'भारत विभिन्न प्रजातियों के बावजूद एक राष्ट्र बन रहा है। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि इनकी विभिन्नता यूरोपीय लोगों की भिन्नता से कम नहीं है'। 19वीं सदी का भारतीय नेता लगातार 'नया राष्ट्र', 'नया भारत', 'नवीन राष्ट्रीय भावना', 'राष्ट्रीयता के विकास' इत्यादि को इंगित करते रहते थे। इसलिए कहा जा सकता है कि 19वीं सदी तक भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा एक मानक राष्ट्रवादी उपाय के रूप में 'परंपरा की खोज' का इस्तेमाल नहीं किया गया था। भारतीय राष्ट्र की पुरातनता के बनिस्पत नयेपन पर ध्यान केन्द्रित किया गया। हालांकि बाद में 20वीं सदी में कुछ नेताओं ने इस बात को कहना शुरू कर दिया कि भारतीय राष्ट्र निरंतर रहा है तथा भारतीय इतिहास में इसकी

मौजूदगी हमेशा से रही है। वे भारत के अतीत तथा उसकी परंपरा को भी गौरवान्वित करते थे तथा उन्हें भारत के वर्तमान पर उसके प्रभाव को हमेशा दर्शाते रहते थे।

इस विशेषता से अलावा भारतीय राष्ट्रवाद बहुस्वीकृत, सहज तथा सामान्य था। यह इस मायने में बहुस्वीकृत था कि भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व स्वीकार करता था कि भारत में व्यापक रूप से विविधता है, लेकिन वे इस बात से इन्कार करते थे कि यह राष्ट्रीयता की तरफ की यात्रा में किसी तरह की बाधा या कमजोरी है। अन्य शब्दों में, भारतीय राष्ट्र के उस विचार को उन्होंने भरपूर प्रोत्साहन दिया जिसके अंतर्गत सांस्कृतिक एकात्मकता की अपेक्षा सांस्कृतिक विविधता है। संभवतः भारतीय विविधता तथा राष्ट्रवाद से इसे जोड़ने वाले सबसे शानदार बयान महात्मा गांधी की तरफ से आया, जिन्होंने अपनी साप्ताहिक पत्रिका हरिजन में 1940 में लिखा: 'भारत एक बड़ा देश और विषाल राष्ट्र है, जो विभिन्न संस्कृतियों से बना है, जो एक दूसरे से मिलकर बने हैं तथा सभी एक दूसरे के पूरक हैं। अगर मैं इस प्रक्रिया के पूर्ण होने का इंतजार कर सकूँ, तो हमें अवश्य इंतजार करना चाहिए। यह पूर्णता हमारे जीवनकाल में तो पूरी नहीं होगी। लेकिन मैं इस विश्वास के साथ मरना पसंद करूँगा कि ऐसा अपने समय के पूर्ण होने के बाद संभव हो पायेगा'। गांधी जी के इस बयान से साफ है कि भारतीय राष्ट्रवादी नेतृत्व इस बात को पूरी तरह स्वीकार करते थे कि भारत का एक राष्ट्र के रूप में बनने की प्रक्रिया काफी लंबी थी तथा पूरी होने से अभी बेहद दूर थी। और इस तरह भारत की विविधता भारत की राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधा कदापि नहीं थी। राष्ट्रवाद तथा बहुलतावाद आपस में जुड़ सकते हैं। भारत जब स्वतंत्र हुआ तथा 1950 में जब इसे एक नया संविधान मिला, तब संविधान निर्माताओं ने इसे स्वीकार करने से इन्कार किया कि भारत की राष्ट्रभाषा किसी एक भाषा को बनाया जाए। इसके बजाय उन्होंने 14 महत्वपूर्ण भाषाओं को सूचिबद्ध किया तथा उन सबको राजकीय भाषा का दर्जा दिया। भारत की राजकीय भाषा की संख्या बढ़कर अब 22 हो चुकी है।

भारतीय राष्ट्र उल्लेखनीय रूप से सहज रहा है। सच है कि सभी राष्ट्रवाद आवश्यक रूप से समरूप शक्तियाँ हैं तथा उनकी कोषिष होती है कि राष्ट्रीय संस्कृति का एक विषाल पुल बने, जिसमें सभी स्थानीय तथा बहुसंख्यक संस्कृतियाँ इसमें खप जायें। यह विष्व के ज्यादातर राष्ट्रों की वास्तविक कहानी है। लेकिन तुलनात्मक रूप से भारतीय राष्ट्र कहीं ज्यादा सहज है। यह 'सर्वानुमति' के विचार पर आधारित था, लेकिन इस सर्वानुमति को ऊपर से किसी पर थोपा नहीं गया। साम्राज्यवादी ताकत के विरोध काल तथा स्वतंत्रता के दौरान भी राष्ट्रीय एकता को सहज तरीके तथा उपायों के माध्यम से ही प्रोत्साहित किया गया। इस खंड का समापन करते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद की निश्चित विशेषताएं हैं, जो राष्ट्रवाद के सामान्य प्रारूप को पुष्ट करती हैं, जैसा कि सिद्धांतों में भी दर्शाया गया है। लेकिन इसकी अपनी विशेषताएं भी हैं, जिसे किसी सिद्धांत से आच्छादित नहीं किया जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सामान्य सिद्धांत एवं राष्ट्रवाद के मूल सिद्धांत अपने लचीलेपन को बनाये रखें ताकि विष्व के विभिन्न भाग में विविध तथा विभिन्न राष्ट्रवादी अनुभवों को स्वयं में समाहित करने की क्षमता हासिल कर सकें।

## 1.6 सारांश

इस इकाई ने राष्ट्रवाद की परिघटना के उभार के लिए कुछ बड़ी व्याख्याओं पर रौषनी डाली है। इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दु बताये गए हैं:

- हमारी पड़ताल के लिए पूर्ण रूप से आवश्यक राष्ट्र, राष्ट्रवाद तथा राष्ट्र राज्य जैसे पदों की प्रारंभिक समझ के लिए व्याख्याएं दी गई हैं। राष्ट्र को एक बहुत खास तथा विशेष मानव समुदाय के रूप में समझा जाना चाहिए। राष्ट्रवाद एक राजनीतिक सिद्धांत है,

जो हमें बताता है कि एक राष्ट्रीय समुदाय को अपना प्रतिनिधि राज्य चाहिए था। राष्ट्र राज्य इसका एक उदाहरण है, जो राज्य उस राष्ट्र तथा उसके भीतर से पैदा होता है। इसे अलग रूप में रखने के लिए मानव समुदायों के विभिन्न प्रकारों ने धरती को बांटा है। राष्ट्र इसी तरह का एक मानव समुदाय है, लेकिन यह एक बहुत अद्भुत तथा विशेष समुदाय है, जो परिदृश्य पर एक खास स्थिति में 19वीं सदी में सामने आता है। राष्ट्र तथा राष्ट्र राज्य दोनों के बीच के जुड़ाव को तभी समझा जा सकता है, जब राष्ट्रवाद के साथ इसे संदर्भित किया जाये। राष्ट्रवाद इन दोनों को साथ ले आता है।

- राष्ट्रवाद के सिद्धांत को व्यापक रूप से आधुनिकतावादी तथा गैर आधुनिकतावादी में विभाजित किया गया है। आधुनिकतावादी सिद्धांत राष्ट्रवाद को 19वीं तथा 20वीं सदी के दौरान के विष्व इतिहास से जुड़ी हुई एक परिघटना के रूप में देखता है। कुछ गैर आधुनिकतावादी सिद्धांत राष्ट्रवाद को एक 'प्राकृतिक मानवीय भावना' के रूप में देखना चाहते हैं तथा अन्य किसी भी तरह की व्याख्या की जरूरत महसूस नहीं करते हैं। कुछ अन्य राष्ट्रवाद को एक दीर्घकालिक विकास, सदियों के विस्तार के रूप में देखते हैं, जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक या भाषिक समुदाय अपने आपको एक राष्ट्रीय समुदायों में विकसित करते हैं। राष्ट्रवाद का एक प्रभावशाली आधुनिकतावादी सिद्धांत अर्नेस्ट गेलनर द्वारा दिया गया है। गेलनर राष्ट्रवाद के उभार को विष्व के कृषक समाज से औद्योगिक समाज में रूपांतरण के रूप में चिह्नित करते हैं। नये औद्योगिक समाज का कार्यकलाप कुछ इस तरह था कि उसने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय समुदायों के सृजन को आवश्यक बना दिया। अन्य शब्दों में, औद्योगिक समाज के क्रियाकलापों तथा उसकी विशेषताओं में ऐसा कुछ था, जो पूरे विष्व में एक शक्ति के रूप में राष्ट्रवाद के उभार के रूप में सामने आया।
- हालांकि, गेलनर के सिद्धांत में एक बड़ी समस्या थी। जैसा कि गेलनर ने औद्योगिक समाज की विशेषताओं को रेखांकित किया, वह पूरी तरह विकसित यूरोपियन समाजों में संचालित हो सकता था। इसके विपरीत सही राष्ट्रवाद सही मायने में एक वैश्विक शक्ति के रूप में उभरा तथा यूरोप के साथ-साथ इसका उभार विष्व के अविकसित गैर यूरोपीय क्षेत्रों में भी हुआ। इसलिए सवाल था कि एशिया तथा अफ्रीका के देशों में राष्ट्रवाद के उभार की व्याख्या किस तरह से की जाये, जिन्होंने औद्योगीकरण के माध्यम से न तो अभी तक विकास तथा न ही समृद्धि प्राप्त किया था।
- इस सवाल का जवाब टॉम नैर्न के सिद्धांत से मिला। नैर्न राष्ट्रवाद का सिद्धांत देने वाले एक अन्य आधुनिकतावादी थे। टॉम नैर्न ने भी गेलनर की तरह राष्ट्रवाद को वैश्विक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के क्रियाकलापों के साथ जोड़ा। लेकिन गेलनर के विपरीत, उन्होंने अपनी व्याख्या की तलाष विकास, शिक्षा तथा औद्योगिक समाज की गतिशीलता में नहीं की, बल्कि उन्होंने इसकी तलाष औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप सभी समुदायों को मिली विषमता तथा विस्थापन में की। इस विषमता ने विष्व को 'यूरोपीयन अभिकेन्द्र' तथा एक 'एशियाई तथा अफ्रीकी परिधि' में विभाजित कर दिया। दूसरे शब्दों में, पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को जन्म दिया। परिधि के संग्रान्तों ने खासकर इस विषमता के अपमान को महसूस किया। इसका मुकाबला करने के लिए उन्होंने एकता तथा एकात्मकता के ख्याल से एक विषाल समुदाय को सृजित किये जाने का कार्य किया। तमाम सीमाओं से परे जाकर उन्होंने औपनिवेशिक वर्चस्व के खिलाफ लड़ाई लड़ी। इसी प्रक्रिया के दौरान इन उपनिवेशों में राष्ट्रवाद उभरा।
- निस्संदेह टॉम नैर्न का सिद्धांत उस वास्तविक प्रक्रिया के बेहद करीब की व्याख्या करता है, जिसमें 19वीं तथा 20वीं सदी में भारतीयों के राष्ट्रीय समुदाय का विकास

हुआ। भारतीय राष्ट्रवादी अनुभव को सबसे अच्छे तरीके से तभी समझा जा सकता है, जब हम इसे 'सामान्य' और 'विशेष' कारकों में विभजित करें। यह सामान्य कारक अन्य समुदायों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की तरह ही व्यापक रूप से समान होगा। लेकिन, भारतीय अनुभव के पास अपनी तरह की विशेषताएं हैं। यह इकाई सामान्य तथा विशेष दोनों तरह के कारकों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

- संक्षेप में, भारतीय राष्ट्रवाद को उचित रूप से समझने तथा उसकी व्याख्या करने के लिए जरूरी है कि दो बातों पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। पहली बात कि हमें सामान्य स्थितियों पर नजर बनाये रखने तथा वैश्विक शक्तियों को समझने की आवश्यकता है, जो राष्ट्रवाद के उभार के परिणाम के रूप में सामने आता है। ठीक उसी तरह, हमें विशेष भारतीय स्थितियों पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत है, जो भारतीयों के एक राष्ट्रीय समुदाय के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राष्ट्रवाद के सिद्धांत की आवश्यकता है कि वो सामान्य तथा सामाजिक-विशेष कारकों को ध्यान में रखे।

---

### 1.7 अभ्यास

---

- 1) राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद के उभार को लेकर आधुनिकतावादी सिद्धांतों की व्याख्या करें।
- 2) राष्ट्र तथा राष्ट्र-राज्य की विभिन्न परिभाषाओं की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
- 3) राष्ट्रवाद के गैर आधुनिकतावादी सिद्धांत क्या हैं ? उनका महत्व क्या है ?



---

## इकाई 2 उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन: एशिया और अफ्रीका\*

---

### संरचना

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 हिंसा और अहिंसा
- 2.3 राष्ट्रवादी विचारधाराएं
- 2.4 राष्ट्रवाद की बौद्धिक और सामाजिक उत्पत्ति
- 2.5 राष्ट्र, राष्ट्रवाद तथा राज्यों का विभाजन
- 2.6 राष्ट्रीय आंदोलनों का आर्थिक संदर्भ
- 2.7 सारांश
- 2.8 अभ्यास

---

### 2.1 प्रस्तावना

---

भौगोलिक जीत पर आधारित उपनिवेशवाद अब इतिहास की विरासत हो चुका है लेकिन पहले के उपनिवेशों और बड़ी शक्तियों के बीच आर्थिक और सैनिक अंतर आज बहुत ज्यादा हो गया है। औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संघर्ष का इतिहास अफ्रीका और एशिया में न केवल देशों के विकास को समझने के लिए महत्वपूर्ण है बल्कि उन शासनों के बारे में भी जो स्वतंत्रता के बाद उभरे। उपलब्ध प्रकाशित कामों के आधार पर अब उपनिवेश विरोधी आंदोलनों का एक तुलनात्मक अध्ययन आसान है। इस इकाई में हम एशिया और अफ्रीका में उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के विकास पर चर्चा करेंगे।

---

### 2.2 हिंसा और अहिंसा

---

हालांकि औपनिवेशिक शासन के खिलाफ कुछ सीधे-सीधे हथियारबंद लड़ाइयां लड़ी गई थीं, महात्मा गांधी के तहत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चलाया गया अहिंसक संघर्ष वास्तव में उपनिवेश विरोधी संघर्षों के इतिहास में अपवाद है। फ्रांस और उसी के बाद अमेरिका के खिलाफ वियतनाम में संघर्ष ने हिंसक आंदोलन का रूप ले लिया। स्वतंत्र दुनिया के रक्षक के तौर पर अमेरिका और सोवियत संघ के बीच प्रतिद्वंद्विता दूसरे विषययुद्ध के बाद उपनिवेश विरोधी आंदोलनों में विवाद का कारण बनीं। ऐसा 1940 के दशक के दौरान स्वतंत्रता हासिल करने वाले देशों के साथ नहीं था। शीतयुद्ध शुरू होने के पहले भारत और चीन ने विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ लंबे संघर्ष के बाद अपने विकास का रास्ता हासिल किया। यहां तक कि 1940 के दशक के आखिर में बर्मा और श्रीलंका जैसे छोटे देश भी शीतयुद्ध के नतीजों को भुगतने से बच गए। हालांकि वियतनाम और कोरिया महाशक्तियों के बीच प्रतिद्वंद्विता के चलते बंट गए जिसमें अमेरिका ने किसानों की सेना को कम्यूनिस्टों को सत्ता में लाने से रोक दिया।

स्वतंत्रता संघर्षों के इतिहास को दो प्रमुख कारकों ने निर्धारित किया। एक में उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा उपनिवेशों को अपनी राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को एक सीमा तक खुले और

जायज रास्तों से व्यक्त करने का मौका दिया गया। ब्रिटेन ने प्रतिनिधि निकायों की स्थापना की जिनमें उपनिवेश विरोधी राजनीति के उदार रूप को फलने-फूलने की इजाजत दी गई। साथ ही उन्हें राष्ट्रवाद की हिंसक अभिव्यक्ति से मुकाबला करना था। फ्रांस अपने ढेर सारे उपनिवेशों में इस तरह का तंत्र विकसित नहीं कर सका और उदार और संवैधानिक राजनीति के नेतृत्व में किसी उदार राजनीति के लिए जगह की गैरमौजूदगी ने हो ची मिन्ह के नेतृत्व में वियतनामी स्वतंत्रता संघर्ष के उभार का रास्ता साफ कर दिया। चीन में शहरी इलाकों में कम्युनिस्ट पार्टी की हार ने माओ को 1930 के दशक में गांवों में अपना आधार बनाने के लिए मजबूर कर दिया। जापानी हमले (1937-1945) के खिलाफ माओ के नेतृत्व में एक मजबूत वर्चस्वशाली सशस्त्र किसान संघर्ष उभरा। चीन में ज्यादा उदारवादी राजनीति के अक्सर मौजूद नहीं थे इसलिए वहां भारत के मुकाबले आंदोलन ने ज्यादा क्रांतिकारी रुख ले लिया।

उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों में शीत युद्ध के दौरान दूसरा कारक बाहरी दखल था। ऐसे बहुत सारे देश थे जो बिल्कुल साफ तौर पर एक तरह की ताकतों के प्रभावों में आए जबकि बहुत सारे मुकाबले के दायरे में आ गए। मलाया में अंग्रेज कम्युनिस्ट आंदोलन को कुचलने के लिए रुक गए जबकि चीन और सोवियत संघ की मदद से उत्तर-कोरिया और उत्तरी वियतनाम में कम्युनिस्टों ने स्वतंत्र नेताओं के तहत पूरा नियंत्रण स्थापित किया। बहुत सारे देशों में राष्ट्रीय आंदोलन पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए संघर्ष था और 1960 के दशक में चीनी-सोवियत अलगाव के बाद अंगोला, मोजाम्बिक और गिनी-बिसाऊ जैसे बहुत सारे अफ्रीकी देशों में सोवियत और चीनी समर्थित घटक बन गए थे। बहुत सारे छोटे देशों का भविष्य अक्सर बड़ी शक्तियों के बीच प्रतिद्वंद्विता और समझौते से बातचीत के जरिये तय होता था उनके उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों से नहीं।

राष्ट्रीय आंदोलनों में बाहरी कारकों की भूमिका को कम करके नहीं आंका जा सकता है। पेरिस और लिस्बन में होने वाला विकास फ्रेंच अल्जीरिया, पुर्तगाली अंगोला और मोजाम्बिक में संघर्षों के नतीजों को तय करता था। अगर 1958 में फ्रांस और 1974 में पुर्तगाल में राजनीतिक समीकरण नहीं बदले होते तो अफ्रीकी उपनिवेशों की आजादी बहुत लंबी खिच जाती हालांकि उनका संघर्ष लंबा था और बहुत ज्यादा हिंसा से भरा हुआ भी। अफ्रीका की स्वतंत्रता साम्राज्यवादी देशों में विकास से प्रभावित था जो 1885 के बर्लिन सम्मेलन के बाद शुरू हुआ। डच इंडोनेशिया, ब्रिटिश मलाया और फ्रेंच इंडो-चाइना में आजादी के आंदोलनों को उस समय गति मिली जब जापानी सेना की उनके इलाकों में जीत शुरू हुई। राष्ट्रीय आंदोलनों की ताकत को इसलिए कम करके नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि पूर्व और दक्षिण एशिया के उपनिवेशवादी सत्ता के लिए दूसरे विष्व युद्ध के भीषण आर्थिक और राजनीतिक नतीजे सामने आए।

उपनिवेशवादी ताकतों ने दुनिया को कई हिस्सों में बांट रखा था बगैर ये देखे कि उपनिवेश की जाति, भाषा या धर्म क्या है। कई इलाकों में सीमाओं को इस तरह से खींचा गया था जो पहले की साझा या मिली-जुली संप्रभुताओं की अवधारणाओं के खिलाफ जाता था। 19वीं सदी में 1885-1893 के बीच विवाद के बाद फ्रांस ने थाईलैंड के राजा के राज्य के बड़े हिस्से पर कब्जा जमा लिया, लेकिन नक्शों और संप्रभुता के आधार पर साफ सीमाओं को परिभाषित करने की प्रक्रिया ने बड़े भौगोलिक क्षेत्रों पर नियंत्रण का उसे रास्ता दे दिया जो पहले से ही उसके शासन के दायरे में आता था। 20वीं सदी के पहले दो दशकों तक औपनिवेशिक ताकतों ने जानबूझ कर आटोमान शासन को कमजोर करने के लिए अरब राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया लेकिन उनके अलग होने के बाद 1921 में खींची गई अरब देशों की सीमाएं कम या ज्यादा वही बनी रहीं। परा अरबी विचार से प्रेरित मिस्र और सीरिया की एकता बहुत कम दिनों 1958 से 1961 तक ही चल सकी। राष्ट्रवाद भौगोलिक क्षेत्र और

पहचान की बिल्कुल स्पष्ट परिभाषा के साथ सामने आया और अक्सर हिंसा या अल्पसंख्यकों के उत्पीड़न का कारण बना। उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष से पैदा हुए राज्यों के खिलाफ अंदरूनी उपनिवेशवाद ने राष्ट्रीय आंदोलनों को बढ़ावा दिया।

## 2.3 राष्ट्रवादी विचारधाराएं

काल्पनिक समुदाय (*Imagined Communities*) नामक अपने एक मशहूर काम में बेनेडिक्ट एंडरसन ने कहा है कि राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य के मौजूदा स्वरूप का विचार 1789 की क्रांति के बाद फ्रांस में विकसित हुआ। उसके बाद फिर यह प्रिंट पूंजीवाद और अभिजात वर्ग के सहयोग से राष्ट्रीय भाषाओं को बढ़ावा देने और कई बार रास्ते में ही राष्ट्रीय भाषाएं बनाने के जरिये पूरे भूमंडल में फैल जाता है। पार्थ चटर्जी ने राष्ट्रवाद के इस रास्ते की आलोचना की है। उनके मुताबिक भारत में राष्ट्रवादी विचार निजी और ज्यादा आध्यात्मिक दायरे में विकसित हुआ जो सार्वजनिक जगहों पर पश्चिमी बातचीत के वर्चस्व से संरक्षित था। काल्पनिक समुदाय का निर्माण भी सवालियों के घेरे में था। जाति और नस्ल के तत्वों को भी केवल साझी कल्पना की पैदाइश नहीं माना जा सकता। इस विचार पर एस.ए. स्मिथ ने भी मुहर लगाई है। राष्ट्रवाद केवल एक या ज्यादा भाषा, जातीयता, नागरिकता और यहां तक कि राष्ट्रवाद इत्यादि तत्वों के आधार पर पैदा हो सकता है। विद्वान आधुनिकता के पहले और नागरिक राष्ट्रवाद, संस्कृति और संवैधानिक राष्ट्रवाद और विशिष्ट और समाहितवादी राष्ट्रवाद के बीच ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर अंतर करते हैं।

ज्यादातर भारतीय राष्ट्रवाद की विचारधारा नौरोजी की **पावर्टी और अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया** की तरह भारत में अंग्रेजी हुकूमत की आर्थिक आलोचना पर आधारित है। 19वीं सदी के आखिरी दशकों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के तत्व भी सामने आए और उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान कम लेकिन बहुत महत्वपूर्ण लोगों को प्रभावित किया। दूसरे देशों के मुकाबले भारत में नस्लीय विरोध का तत्व बहुत कम रहा है और अफ्रीका के मुकाबले तो बहुत कम। अल्जीरिया, केन्या और दक्षिण अफ्रीका की तर्ज पर यहां गोरे लोगों का न बसना इसका एक महत्वपूर्ण कारक रहा है और एक दूसरा कारक अफ्रीका में गुलामी का ऐतिहासिक अनुभव भी रहा है जिसके तहत यूरोपियनों और कभी-कभी स्थानीय अफ्रीकी अभिजात वर्ग और अरब व्यापारियों के सहयोग से बड़ी तादाद में दासों का नये विष्व में निर्यात किया जाता था। गोरे बाषिंदे गोरों के खिलाफ नस्लीय विरोध के मजबूत तत्व पैदा करने के लिए जिम्मेदार थे क्योंकि उन्होंने खेती के लिए सबसे अच्छी जमीन पर कब्जा किया और रहने के लिए सबसे बेहतर स्थानों को चुना। यूरोपीय ताकतें पूरी औपनिवेशिक दुनिया में नस्लीय बाधाओं को खड़ा करने के लिए जिम्मेदार हैं लेकिन अफ्रीका में इसने अति का रूप ले लिया। इसीलिए उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचनाओं का स्थान अक्सर फैनन के **द रेचेड ऑफ द अर्थ** जैसे गोरा शासन और नस्लवाद की आलोचनाएं ले लेती हैं।

इन सभी देशों में जो औपनिवेशिक शासन के तहत आए वहां शासकों और शोषितों के बीच बिल्कुल स्पष्ट अंतर दिखा। पूरा साहित्य जो एडवर्ड सईद के 1978 में प्रकाशित **ओरियंटलिज्म** से फला-फूला उसका संदर्भ औपनिवेशिक सत्ता और शाषित लोगों के बीच के गैर बराबरी की शक्तियों से है। साथ ही दूसरी तरफ पूर्वी और पश्चिमी अवधारणाओं का निर्माण भी खुद को चमकाने के लिहाज से थे। भारतीय समाज और संस्कृति की यूरोपीय अवधारणाएं भी-चाहे वे विलियम जोन्स जैसे प्राचीन भारत के साहित्य और धर्म के बिल्कुल प्रषंसक हों या फिर इसको पूरी तरह से खारिज करने वाले उपयोगितावादी मिल या मैकाले जैसे अंग्रेजी को बढ़ावा देने वाले लोग हों – सब उसी विमर्ष के हिस्से थे जिसने भारत का पूर्वीकरण किया। वैदिक भाषों और आर्यन संस्कृति के लिए महान उपासना ने यूरोपीय सांस्कृतिक

वर्चस्व के खिलाफ भारतीय प्रतिक्रियाओं को आकार दिया। इसने यूरोपीय सांस्कृतिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष में हिंदुत्व में सुधार और हिंदू मध्यवर्ग के सांस्कृतिक विष्वास के उपायों में बड़ी गति दे दी।

भारतीय मुसलमानों के संदर्भ में आटोमान शासन का पतन और 18वीं सदी के बाद मुस्लिम सत्ताओं के खात्मे ने पुनरुत्थानवाद और परा-इस्लामवाद की भावना को जन्म दिया। शाह वली उल्लाह, सैय्यद अहमद बरेलवी, जलालुद्दीन अफगानी, अली भाइयों और यहां तक कि मोहम्मद इकबाल ने इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया। जबकि सैय्यद अहमद खान और मोहम्मद अली जिन्ना उपमहाद्वीप में मुसलमानों के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों के प्रति चिंतित थे। और वो मुस्लिम समुदाय को जिस भी तरीके से हो सके गोलबंद करना चाहते थे। यहां तक कि वे इस मामले में अंग्रेजों से भी सहायता लेने से परहेज नहीं करते थे। उपमहाद्वीप में धर्म राजनीतिक पहचानों और राष्ट्रवाद को आकार देने में एक महत्वपूर्ण कारक था। इसके अलावा भाषा, जाति और क्षेत्र के आधार पर विकसित पहचानें भी थीं लेकिन औपनिवेशिक शासन के आखिरी दिनों में धर्म आधारित पहचानें ज्यादा प्रभावी हो गई थीं और फिर यही 1947 के विभाजन का रास्ता खोलती हैं। भाषा पर आधारित राष्ट्रीय पहचानों के निर्माण पर एंडरसन का जोर धर्म की भूमिका को कम करता है। प्रिंट पूंजीवाद, सामुदायिक मुकाबला और 'बांटो और राज करो' की औपनिवेशिक नीतियों ने बाद के औपनिवेशिक भारत में धार्मिक पहचानों को काफी निर्धारक बना दिया।

बहुत ज्यादा मुस्लिम या फिर महत्वपूर्ण मुस्लिम अल्पसंख्यक आबादी के साथ बहुत सारे देशों में यूरोपीय सांस्कृतिक और राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ प्रतिक्रिया को विकसित करने में धर्म ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इंडोनेशिया में राष्ट्रवाद का विकास एक किस्म की मुस्लिम पहचान से जुड़ा हुआ था हालांकि सारेकत इस्लाम उस तरह का प्रभाव नहीं रखता था जैसा कि उसी तरह के दल दक्षिण एशिया और पश्चिम एशिया में रखते थे। यह अंतर इन देशों खासकर इंडोनेशिया, फिलीपींस और मलेशिया में दूसरे धर्मों की मौजूदगी के चलते था। साथ ही इस्लाम के केन्द्र अरब से दूर इन मुस्लिम समुदायों में इस्लाम का उदार स्वरूप चलन में था। अरब की स्पेन पर जीत की यादें—जिसने अरब साहित्य में अंडलुसियन उपन्यास को प्रेरणा दी— दुनिया के इस हिस्से में एक कारक नहीं था। पंचषील का सिद्धांत, जैसा कि अगस्त 1945 में प्रचारित किया गया, ने धर्म से संबंधित सभी संदर्भों को इंडोनेशिया में ठोस एकता के लिए छोड़ दिया गया। सुकार्णो और उनके बाद सुहार्तो ने राष्ट्रवाद के एक व्यापक सेकुलर रूप को तवज्जो दी। आजादी हासिल होने से पहले इंडोनेशिया और मलेशिया में कम्युनिस्ट आंदोलन का उभार वैकल्पिक विचारधाराओं की मौजूदगी की तरफ इशारा करता है। वापस जाती हुई औपनिवेशिक ताकतों ने इन देशों में कम्युनिस्ट विरोधी राष्ट्रवादियों की सफलता को सुनिश्चित किया। ट्यूनीशिया के बौरग्विबा जैसे अरब के कुछ नेता सोचते थे कि कम्युनिस्टों के खिलाफ राष्ट्रवाद सबसे बड़ा प्रतिरोधक है क्योंकि ये सभी लोगों के हित को बढ़ावा देता है। पश्चिम एशियाई इलाके में औपनिवेशिक ताकतें वर्चस्व का भोग कर रही थीं लेकिन अक्सर गहरी जड़ों तक नहीं पहुंच पाई थीं। इराक पहले विष्वयुद्ध के बाद 1932 तक छोटे समय के लिए औपचारिक तौर पर औपनिवेशिक शासन के तहत था हालांकि 1958 तक यह नये औपनिवेशिक प्रभाव में था। ईरान भी परोक्ष तौर पर अनौपचारिक साम्राज्यवाद के प्रभाव में था लेकिन सीधे कभी उस पर औपनिवेशिक शासन नहीं रहा। परा अरबवाद के विकास के साथ अरब राष्ट्रवाद उभरा लेकिन किसी एक अकेले अरब देश की मांग कभी नहीं हुई। पहले के परा अरबीवादी कम से कम तीन अरब देशों की कल्पना करते थे इसमें स्वेज-सीरिया, इराक और अरबी प्रायद्वीप शामिल थे। औपनिवेशिक युद्धों और प्रथम विश्व युद्ध के बाद 20 अरब देशों की मौजूदगी ने राष्ट्रवाद प्रायोजित राष्ट्र-राज्य पर आधारित स्थानीय निष्ठाओं के प्रभावों को और व्यापक

कर दिया। अरब राष्ट्रवाद परंपरा और परंपराओं के नये तरीके के इस्तेमाल पर आधारित था। 13 सदियों की इस्लामी सभ्यता की उपलब्धियों को अरब सभ्यता की उपलब्धियों से जोड़ दिया गया। यहां तक कि अगर इस्लाम और अरब को एक दूसरे से जोड़कर नहीं देखा जाता है तो उन्हें एक दूसरे के खिलाफ भी नहीं माना गया। हालांकि उत्तरी अफ्रीका और अरब प्रायद्वीप में इस्लाम ने राष्ट्रवाद के विकास में एक अहम भूमिका निभाई लेकिन यह इस्लाम की केंद्रीय हिस्से मिस्र और क्रिसेंट के लिए सत्य नहीं था जहां बड़ी मात्रा में ईसाई आबादी भी थी। 1930 और 40 के दशक में इराक में अरब राष्ट्रवाद की एक विकसित अवधारणा सामने आई, जबकि सीरिया में 1950 के दशक में और मिस्र में 1960 के दशक में। अरब राष्ट्रवाद की विचारधारा को एक नया आकार देने में धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि मिस्र, सीरिया, इराक और लेबनान में राष्ट्रवादियों और इस्लामी पुनरुत्थानवादियों के बीच लंबा संघर्ष चला।

तुर्की लोग मुस्तफा कमाल पासा जैसे आधुनिक विचारों वाले नेताओं द्वारा शासित हुए जिन्होंने मुस्लिम समुदाय के धार्मिक मुखिया खलीफा के पद को समाप्त किया, हालांकि भारतीय मुसलमानों तक ने तुर्की के खलीफा के प्रति औपनिवेशिक रवैये का विरोध किया था। एक विद्वान ने कमाल के तुर्की और मध्य सोवियत एशिया में 1920 और 30 के दशक के दौर की कुछ समानताओं को चिन्हित किया है। इसमें किसी एक अभिजात द्वारा आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण, शिक्षा प्रसार, महिलाओं की स्थिति में सुधार और राष्ट्रीय भाषा को विकसित करने में रोमन स्क्रिप्ट को अपनाना शामिल था। तुर्की में राज्य द्वारा धर्म को अपने अधीन रखने की प्रक्रिया स्वीटजरलैंड की 1926 पर आधारित समान आचार संहिता को लागू करने के साथ हुआ। इस्लाम के राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में कुरान का पहली बार 1933 में तुर्की में अनुवाद हुआ। 1990 के दशक में राष्ट्रवाद को आटोमान-इस्लामी परंपरा के मुताबिक फिर से आकार देने की कोषिष की गई। इसे 1453 में कांस्टैंटीनोपोल में ईसाई पश्चिम के खिलाफ आटोमान की जीत को याद करने के जरिये की गई थी। किसी भी हालत में धार्मिक राष्ट्रवाद एक पीछे ले जाने वाली चीज है यह बात इस्लामी दुनिया में ज्यादा महत्वपूर्ण तब हो गई जब 1979 में ईरान के शाह के खिलाफ विद्रोह हुआ। पहले के दौर में राष्ट्रवादी अभिजात वर्ग ने ट्यूनीशिया के बौर्गिबा, सीरिया और इराक में बाथ सोषलिस्ट पार्टियां और ईरान में मोसादेघ और मिस्र में नासिर जैसे देशभक्त नेताओं को समर्थन दिया।

## 2.4 राष्ट्रवाद की बौद्धिक और सामाजिक उत्पत्ति

अफ्रीका और एशिया के बहुत सारे देशों में राष्ट्रवाद का उदय छोटे अल्पसंख्यकों के मिशनरियों, पर्यटकों, विद्वानों या व्यापारियों जैसे यूरोपीयों के संपर्क में आने से हुआ। राष्ट्रवादियों ने जब राष्ट्रवाद को परिभाषित किया तो अपने इतिहास के प्राचीन काल में गए लेकिन राष्ट्रवाद का विकास यूरोपीय लोगों के साथ गहरे संपर्क में जाने से हुआ। इस बात पर बहस करना बेकार है कि प्राथमिक संपर्क ही राष्ट्रवाद की किसी भावना को पैदा करने में कामयाब रहा। इस दौर ने जो कुछ किया उसके मुताबिक इसने लोगों के एक समूह को बना दिया जो राष्ट्रों और राष्ट्रवाद के बारे में विचारों को हासिल कर सकता था। 18वीं सदी के मध्य में अंग्रेजों द्वारा बंगाल की जीत ने एक नये वर्ग के लोगों के लिए आधार का निर्माण कर दिया जिनके हित अंग्रेजी हुकूमत से जुड़े हुए थे। और फिर 19वीं सदी की शुरुआत में यूरोपीय उदारवाद और संस्कृति के पश्चिमी विचारों से प्रेरित होकर एक पूरी जमात का निर्माण हुआ। युवा बंगाल आंदोलन और राम मोहन राय और बंकिम चंद्र ने पश्चिमी प्रभुत्व की प्रक्रिया में देशी प्रतिक्रिया को परिभाषित किया। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना पाश्चात्य शिक्षा से जुड़े हुए भारतीयों द्वारा किया गया।

चीन पूरी तरह से कभी भी उपनिवेश नहीं बना और यहां तक कि जापानी भी पूर्वी चीन के क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ सके हालांकि वो इलाके बहुत बड़े थे। आधुनिक युग से पहले भी चीन में कुछ राष्ट्रवाद के तत्व मौजूद थे क्योंकि उन्होंने लकड़ी के ब्लाक की प्रिंटिंग विकसित कर ली थी और सार्वजनिक परीक्षा और केंद्रीय सरकार के जरिये बड़े स्तर पर नौकरशाही की नियुक्ति की जाती थी। चीनी इतिहासकार लियांग क्विचाओ ने 20वीं सदी की शुरुआत में ही काल्पनिक समुदाय की एंडरसन की अवधारणा के समान विचार रखे थे। आधुनिक चीन की राष्ट्रवाद की अवधारणा हान की प्रमुखता के साथ जुड़ी हुई थी। हालांकि चीनी कम्यूनिस्ट चीन में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा में विष्वास करते हैं। सोवियत संघ के विपरीत चीन ने कभी भी राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को अलग होने का अधिकार नहीं दिया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि चीनी कम्यूनिस्टों को स्वतंत्रता या फिर समाजवाद की लड़ाई के लिए अल्पसंख्यकों के सहयोग की जरूरत नहीं पड़ी। जापानी हमले के बाद कौमितांग और कम्यूनिस्ट पार्टी चीनी राष्ट्र के बारे में एक ही तरह के विचार रखते थे: हान लोगों की केंद्रीयता और गैर हान सीमाओं को चीन में शामिल कराना। हालांकि कौमितांग राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को क्लान कहते थे जबकि कम्यूनिस्ट उन्हें राष्ट्रीयताएं कहने के लिए तैयार थे। इस तरह से ये राष्ट्रीयताएं राष्ट्र के भीतर समानता की मांग कर सकती थीं न कि उससे अलग होने की बात।

पूर्वी एशिया में राष्ट्रीयताओं और राष्ट्रवाद की पहचान कर पाने में समस्याएं रही हैं जो लंबे काल के ऐतिहासिक कारकों और हाल के देशों के कार्यवाही का नतीजा है। वियतनामी भाषा में बड़ी मात्रा में चीनी शब्दों का समावेश है ऐसा इसलिए है क्योंकि दोनों के बीच बहुत लंबे समय से संपर्क रहा है न कि किसी तरह से उसका चीनी भाषा के साथ कोई नजदीकी रिश्ता है। थाईलैंड की मानक भाषा का शब्दकोष ख्मेर से लिया जाता है जो संस्कृत से शब्दों का आयात करता है और इन तीनों भाषाओं के बीच कोई मूल संबंध नहीं है। बर्मा में कचिन एक जातीय पहचान के तौर पर विकसित हो गई जो बिल्कुल राजनीति का नतीजा था। इसमें भाषा या जाति पर आधारित कोई बुनियादी विशेषता नहीं थी। औपनिवेशिक काल से पहले स्थानीय, जातीय और बौद्ध या चीनी परंपराओं के मुकाबले जीव विज्ञान और बोली जाने वाली भाषा मतभेदों को आकार देने के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं थे। 20वीं सदी तक केवल देशों के परिभाषित सीमाओं को शासन के इलाकों की सीमाओं के तौर पर देखा जाता था और इस तरह से पूर्वी एशिया के आधुनिक राष्ट्र जातीय वर्गीकरण में शामिल हो गए। हान चीनी दूसरी राष्ट्रीयताओं को बर्बर मानती थीं और क्विंग और गणतंत्रीय चीनी चीन में पांच नस्लों को मुख्य मानते थे। 1962 में जातीय वर्गीकरण या मिंजुषिबी ने सभी मिंजुओं को चीनी राष्ट्र के भीतर बराबरी पर रखा। हालांकि मतभेदों के आधार पर तकरीबन 400 समूहों को चिन्हित किया गया जिसमें 56 मिंजु थे। चीन गुआंजी में झुआंग और यूनान के चिन्हित समूहों के दावों को बनाने के जरिये उनकी इस पहचान को प्रोत्साहित करने और उन्हें वियतनाम और कंबोडिया के ताई बोलने वाले समूहों से जोड़ने की इजाजत देंगे। अल्पसंख्यकों के दावों को बढ़ावा देने या फिर उनके अधिकारों और दावों को दुरुस्त करने में राज्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पश्चिम अफ्रीका में औपनिवेशिक बौद्धिक वर्ग 1840 के दशक के दौरान उभरना शुरू हुआ। सारो समूह के लोग (योरुबा वंशज के लोग, स्वतंत्र दास सियरा लियोन में शिक्षित) जो नाइजीरिया में 1939 में बस गए वो लोग नहीं थे जो यूरोपीय शिक्षा को इलाके में ले आए। तट के किनारे रहने वाले 16वीं सदी के बाद से ही अटलांटिक अर्थव्यवस्था के व्यापार से लाभ हासिल करने के लिए जरूरी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से अध्यापकों को रखना शुरू कर दिया था। फ्रीटाउन और लागोस ने विभिन्न क्षेत्रों से लोगों को खींचना शुरू किया। ब्राजील और लिबरिया से मुक्त किए लोग कैरेबियाई, जमाइकन मैरून और अमेरिकी काले

और देसी मेंडे और टेमने ने शिक्षित समुदाय को सुदृढ़ करने में योगदान दिया। सियरा लोन में चर्च मिशनरी सोसाइटी में काम करने के लिए अफ्रीकियों को प्रशिक्षित करने की दिशा में 1827 में स्थापित फोराह बे कालेज ने पश्चिम अफ्रीका में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। ब्लैक एटलांटिक की संस्कृति से जुड़ाव बाद की 19वीं सदी के बौद्धिक जीवन पर प्रभावी रही। हालांकि पश्चिम अफ्रीकी बौद्धिक समुदाय संख्या बहुत बड़ी नहीं थी लेकिन दूसरे इलाकों के मुकाबले वो पहले उभर कर सामने आए।

पश्चिम अफ्रीकी बौद्धिक समुदाय के बहुत सारे सदस्य ईसाई धर्म से गहराई से प्रभावित थे और यूरोपीय सभ्य नागरिक मिशन के ढांचे में अफ्रीकी के तौर पर ही अपना स्थान बनाने की कोशिश किए। अफ्रीकी सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रवाद का विकास बहुत सारे इलाकों में ईसाई धर्म के प्रसार से प्रभावित था। यह अरब और मुस्लिम दुनिया से अलग था और दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया से भी। अफ्रीकी राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक स्वभागीदारी ने विभिन्न विचारधाराओं के साथ अफ्रीका नियंत्रित चर्चों का रूप लिया। 1937 में लार्ड हैली ने राष्ट्रवाद के एक सर्वे में पाया कि ये काले चर्च एक तरह के राष्ट्रवादी जागरण के संकेत थे। ऐसा कहा जाता है कि यद्यपि ईसाई मिशनरियों ने पश्चिम अफ्रीका की विभिन्न जनजातियों के शिक्षित सदस्यों के लिए एक समान भाषा मुहैया कराई लेकिन वे औपनिवेशिक ताकतों के हितों को पूरा करने की दिशा में उन्हें उसी तरह से बदलना चाहते थे। ईसाई चर्चों पर यूरोपीय प्रभुत्व था और वो अफ्रीकियों से बराबर के स्तर पर पेश नहीं आते थे। जबकि पश्चिमी शिक्षा और बाइबिल तक उनकी पहुंच के कारण उनके भीतर न्याय की इच्छा तीव्र हो गई। इसने प्राथमिक तौर पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरे हुए अफ्रीकी चर्चों के प्रसार का रास्ता साफ किया और फिर उन्हें बराबरी का दर्जा न मिलने से वे राष्ट्रवाद की तरफ प्रेरित हुए। एक और सामान्य तर्क दिया जाता है जिसके मुताबिक ईसाई मिशनरियों ने उनके सामने एक बहुत बड़ी दुनिया खोल दी थी लेकिन उन्हें पश्चिमी पूंजीवादी संस्कृति के संदर्भ में जो पेश किया गया था, अफ्रीकी उसे हासिल नहीं कर सके। जो उनके सामने प्रस्तावित था और वास्तव में उन्हें जो मिला इसके बीच का अंतर प्रतिरोध से लेकर विद्रोह के रूपी रूपों की प्रतिक्रिया के तौर पर सामने आया। अफ्रीकी राष्ट्रवाद इस प्रक्रिया के जरिये बहुत तेज हो गया।

राष्ट्रीयता के लिए प्रेरणा देश की अतीत की उपलब्धियों की ओर ध्यान केंद्रित करने या धर्म या संस्कृति पर आधारित लोगों के आध्यात्मिक जीवन से आई। अफ्रीका में मिश्र के बाहर के लोगों को नील नदी सभ्यता की उपलब्धियों के साथ-साथ पारंपरिक जनजातीय संस्कृति पर भी गर्व था। शुरुआत में राष्ट्रवादियों ने पारंपरिक धर्म या संस्कृति की शक्तियों को पहचाना और उन्हें हाईलाइट किया। थाईलैंड में जहां उपनिवेश नहीं था, वहां सभ्यता का विचार पश्चिम से आए सभ्य समाज के विचारों से प्रभावित था। पश्चिम सभ्यता के नए मानकों को तय कर रहा था जो पहले चीन और भारत करते थे। सभ्यता के लिए 19वीं शताब्दी में संस्कृत में आर्याथम (आर्या+धम्मा) शब्द की खोज की गई थी, जो सफल नहीं हो सका। अंग्रेजी शब्द से लिया गया शब्द सिविलाई या 14वीं शताब्दी का खमेर शब्द चारोइन ज्यादा लोकप्रिय हुआ। राष्ट्रीयता की जातीय व्याख्या करने में वियतनाम राष्ट्र के रूप में हजार वर्ष पहले चीनी सत्ता के विरोध में खड़ा हो गया था, पर जो गांव-समुदाय के सांप्रदायिक एकजुटता में विष्वास करते थे उन्होंने इसकी भूमिका राष्ट्रीयता और सांप्रदायिकता में विभिन्न रूपों में 20वीं शताब्दी के दौरान हाईलाइट किया। वियतनामी राष्ट्रीयता के बजाय अन्नम या इंडो चाईना के विचार ने गुयेन अन निन्ह और अन्य को 1920 के दौरान प्रेरित किया पर अंततः प्रभाव खो दिया। समकालीन विद्वानों ने वियतनामी इतिहास की पड़ताल चाम, खमेर, मोंग के दृष्टिकोण से की न कि सिर्फ किन्ह से। वियतनामियों में आंतरिक विभाजन और न सिर्फ विदेशियों के खिलाफ उनका एकजुट संघर्ष ही अब अध्ययन का विषय है।

## 2.5 राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राज्यों का विभाजन

औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा उपनिवेश स्थापित करने की अंधी लड़ाई में एशिया और अफ्रीका के विषाल भू-भाग को सम्मिलित करना एक लंबी प्रक्रिया थी जिसकी कोई तय विधि नहीं थी। उपनिवेश अधिग्रहण करने के आर्थिक कारण के साथ-साथ सामरिक विचार भी थे जिनके चलते कब्जे किए गए। गैर-यूरोपीय दुनिया का विभाजन भी भू-भाग अधिग्रहित करने के लिए किया गया जिनका भविष्य में महत्व होने वाला था या विरोधी को उस क्षेत्र में दबदबा स्थापित करने से रोकना था। इन कारणों से बने देशों में कुछ भी समानता नहीं थी सिवाय शासकीय शक्ति के। विषाल भूखंड से काटकर बनाए गए कई अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में पहचान बनाने की क्षमता की कमी रही। यूरोपीय देशों की राजधानियों में हुए कूटनीतिक समझौते के तहत मनमाने ढंग से सीमाएं तय की गईं और शासन पद्धतियां, निवासियों के जनजातीय, भाषाई और जातीय पहचान को ध्यान में न रखकर बनाई गईं। राष्ट्रीय आंदोलन रंग या अश्वेत वंश की पहचान पर आधारित थे। प्रजाति की पहचान पर आधारित राष्ट्रीय आंदोलन अंततः जनजातीय, धार्मिक और भाषा की पहचान पर आधारित राष्ट्रीय आंदोलन की तुलना में कमजोर पड़ गए।

पश्चिम अफ्रीका, में नाईजीरियन राष्ट्रवादियों का अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष देश के दक्षिणी हिस्से में रहने वाले ईसाइयों और उत्तरी इलाके में रहने वाले मुस्लिम आबादी के बीच मतभेदों के कारण कमजोर हो गया। जातीय विभाजन के चलते ही इगबो आजादी के तुरंत बाद अलग हो गए। 1967 से 1970 के बीच हुए खूनी युद्ध के बाद बियाफ्रा नाईजीरिया में शामिल हुआ। पूर्वी अफ्रीका में मारु-मारु विद्रोह से देश का जातीय तनाव बाहर आ गया और इससे किकूयो जनजाति प्रभुत्व में आ गई। जो भी उपनिवेशी शासकों के खिलाफ लड़ते उन्हें कठोर सजा दी जाती और जातीय विभाजनों का इस्तेमाल उपनिवेश की सत्ता को बढ़ाने में किया जाता था। अफ्रीकियों ने अश्वेत रंग पर आधारित अखिल अफ्रीकी विचारधाराओं का सृजन करना आसान पाया जैसा कि लियोपोल्ड सेन्धर, क्वामे निकरुमा और जोमो केन्यात ने व्यक्त किया था। ऐसा उन्होंने जनजातीय पहचानों की अनदेखी कर अलग-अलग देशों को एक करने के बजाय किया। उपनिवेशी शक्तियों ने आर्थिक कारणों के चलते पृथकतावादी मांगों को बढ़ावा दिया। बेल्जियन कांगों को विभाजित किया जिससे काटांगा के संसाधनों को अच्छी तरह से नियंत्रित किया जा सके। पश्चिम एशिया में भू-भाग का विभाजन कठिनाईयों से भरा रहा क्योंकि तेल की खोज की वजह से ये क्षेत्र बड़े निगमों और उपनिवेशी शक्तियों के लिए महत्वपूर्ण हो गया। कुवैत को एक अलग स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता दी गई, कथित तौर पर तेल उत्पादक देशों की सौदेबाजी की क्षमता को कमजोर करने के लिए। गैर-उपनिवेशवाद की राजनीति पर स्पष्ट या अस्पष्ट तौर पर उपनिवेश के संसाधनों पर नियंत्रण के संघर्ष की छाप दिखती है।

एक आधुनिक अध्ययन का दावा है कि ब्रिटिश ने अफ्रीका में एक रणनीति अपनाई जिसका मकसद भारत में हुए गैर-उपनिवेशवाद जैसे गठबंधनों को रोकना था। अंग्रेजों ने फूट डालो और शासन करने की नीति अपनाई और एक जातीय संगठन को दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जैसी नीति का प्रयोग वो भारत में कर चुके थे। अंग्रेजों ने सेना में नाईजीरिया के टीव, उगांडा के अचोली और कीनिया के कांबा से अधिक संख्या में लोगों की भर्तियां की। अफ्रीका में अंग्रेजों की नीति अप्रत्यक्ष रूप से शासन के पारंपरिक ढांचों के माध्यम से शासन करने की थी, जो उपनिवेशी शासन के अधीन थे। दूसरी ओर, फ्रांसीसी शासकों ने, जो सत्ता के ज्यादा केंद्रीकरण और औपनिवेशिक जनता को बृहद फ्रांस में शामिल करने पर विष्वास रखते थे, पारंपरिक सामाजिक ढांचे को ध्वस्त कर दिया। उन्होंने फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति की स्वीकार्यता के आधार पर अभिजात वर्ग को बढ़ावा दिया और पूर्व के पदों की



अवहेलना की। इस प्रकार, फ्रांसीसियों के उलट अंग्रेजों ने जातीय स्तरीकरण के लिए एक दर्जारहित पद्धति विकसित की। इससे अंग्रेजों के अधीन जातीय प्रतिद्वंद्विता बढी जो उपनिवेशों के स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद और तेज हो गया। अंग्रेजों के पूर्व-उपनिवेशों में पारंपरिक ढांचों की वजह से असंतुष्ट गुटों को दमनकारी अभिजात वर्गों के खिलाफ प्रभावी रूप से संगठित करने में मदद की। 48 देशों के आंकड़ों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि अंग्रेजों के पूर्व-उपनिवेशों में ज्यादा संघर्ष हुए जबकि फ्रांसीसी पूर्व-उपनिवेश में ज्यादा शिकायतें थी।

इस पर बहस हो सकती है कि ब्रिटिश उपनिवेशों में जातीय भिन्नताओं के शोषण को कमतर कर आंका गया है। अंग्रेजों ने आयरलैंड, भारत और फिलीस्तीन का बंटवारा कर राष्ट्रवादियों के हाथों में सत्ता सौंपी। हालांकि अंग्रेज अक्सर अपने उपनिवेश को छोड़ने से पहले विभाजित कर देते थे पर वे शांतिपूर्वक रूप से वापस जाने में विश्वास करते थे, फ्रांसीसियों की तुलना में। अंग्रेजों और फ्रांसिसियों दोनों के उपनिवेशों ने महासंघ बनाने का प्रयास किया। 1963 में बने सेंट्रल अफ्रीकन फेडरेशन के असफल होने पर उगांडा, तंजानिया और केन्या ने अपने अलग रास्ते अख्तियार किए। महासंघ अक्सर ज्यादा विकसित राष्ट्रों के गुप की इस चिंता से असफल हुए कि उन्हें कम विकसित क्षेत्रों का भार वहन करना पडेगा। गैबन को सेंट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक जिसे चार फ्रांसीसी उपनिवेशों ने स्थापित करने की कोषिष की थी के बारे में यह भय था। पश्चिमी अफ्रीका के कोटे डी आईवोरे और पूर्व अफ्रीका के केन्या भी महासंघ के बारे में इसी कारण से सषंकित थे।

दक्षिण एशिया में दूसरे विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन की ताकत और औपनिवेशिक सत्ता के टूटने के बाद और विभिन्न समुदायों के बीच के संबंधों के मद्देनजर वापस हटने की नीति बुद्धिमतापूर्ण थी। ब्रिटेन का लेबर नेतृत्व दीवार पर लिखी लिखावट को देख रहा था पर सिर्फ दक्षिण एशिया में ही। अफ्रीकी उपनिवेशों में अंग्रेजों ने साम्राज्य विस्तार योजना में ध्यान केंद्रित करना जरूरी समझा जिसमें उपनिवेश को केन्द्र से जोड़ा जाए और उनके संसाधनों का इस्तेमाल स्टर्लिंग एरिया की मदद में की जाए जिसका सृजन युद्ध काल के दौरान आर्थिक संकट में किया गया था। टिन, रबर, कोकोवा, चाय और साम्राज्य के दूसरे उत्पाद युद्ध के बाद उबर रहे ब्रिटेन के लिए जरूरी थे और अभिजात वर्ग बदलाव की हवा को 1960 तक नहीं आंक पा रहे थे। 1956 के स्वेज संकट में हुई हार के साथ ब्रिटिश प्रधानमंत्री एन्थोनी एडेन की हार और मिश्र के अब्दुल नासिर की राष्ट्रवादी नीति की पुष्टि से अंग्रेजों को अपनी क्षीण होती साम्राज्य नीति का आभास हुआ। पारंपरिक शासन और दबदबे के लिए गैर-पारंपरिक पद्धति दुनिया में शीत युद्ध काल में पहले के औपनिवेशिक सत्ता के लिए विकल्प नहीं थे। दो सुपरपावर का दबदबा हुआ हालांकि नासिर और नेहरू और टीटो के नेतृत्व में गुट निरपेक्ष देशों ने अपना प्रभाव स्थापित करने की कोषिष की।

राष्ट्रीयता के संदेश औपनिवेशिक सत्ता और औपनिवेशिक सत्ता के बाद के अभिजात वर्ग द्वारा प्रोत्साहित किए गए, विभिन्न आर्थिक और रणनीतिक कारणों के चलते जिनके कारण कुछ समय वो साथ आए। ग्रेटर मलेषिया का विचार, मलय नेता टानकू अब्दुल रहमान द्वारा समर्थन के बाद 1961 में अंग्रेजों द्वारा प्रोत्साहित किया गया। यद्यपि टान्कू सिंगापुर को ग्रेटर मलेषिया के हिस्से के रूप में नहीं चाहते थे पर उसे योजना के मुताबिक जाना पड़ा जिससे बोरनियो में सारावक और साबा के संसाधनों को सुरक्षित किया जा सके। इसलिए मलय ने जो 1957 में आजाद हुआ, सिंगापुर और बोरनियो भू-भाग को मलेषिया के हिस्से के रूप में स्वीकार किया। सिंगापुर के ली कुआन यू अपनी हित को बचाने के लिए शीत युद्ध काल में ब्रिटेन के रणनीतिक योजना के साथ गए क्योंकि वे भी साम्यवाद के उदय को रोकना चाहते थे। इस प्रकार साम्यवाद के भय ने एक महासंघ को बनने में मदद की जिसका

जमीनी समर्थन से कुछ लेना देना नहीं था, हालांकि सिंगापुर ने 1965 में खुद को अलग कर लिया। राष्ट्रीयता हमेशा राष्ट्र-राज्य या राजनैतिक संघटन में भूमिका नहीं निभाती।

शीत युद्ध का गैर-उपनिवेशवाद पर असर काफी जटिल है। कुछ बातों में पश्चिम में इस गलत धारणा का निर्माण हुआ कि एशिया और अफ्रीका में स्वायत्त राष्ट्रवादी आंदोलन सोवियत यूनियन और चीन की कठपुतली थे। कुछ देशों से औपनिवेशिक सत्ता इसलिए वापस लौट गई क्योंकि वे समाज के चरमपंथी तत्वों को सत्ता के नजदीक नहीं चाहते थे। साम्राज्य के आर्थिक हितों की प्रभावपूर्ण रूप से रक्षा एक निर्भर राष्ट्रवादी अभिजात्य वर्ग, जो बाहरी समर्थन पर निर्भर हो, से हो सकती थी न कि स्वतंत्र या समाजवादी नेताओं से। अफ्रीका में कई सैनिक तानाषाहों के उदय से समाज में शीत युद्ध के दौरान तीव्र ध्रुवीकरण परिलक्षित होता है जिससे मध्यम-मार्गी सुधारवादी और लोकतांत्रिक समाजवादियों के लिए राजनीतिक स्थान घटा।

## 2.6 राष्ट्रीय आंदोलनों का आर्थिक संदर्भ

यह मान्य तथ्य है कि उपनिवेश पर कब्जा का बहुत बड़ा आर्थिक महत्व था। औपनिवेशिक विस्तार का उद्देश्य कच्चे माल की खोज, औद्योगिक उत्पादों का बाजार, और लाभप्रद निवेश की संभावनाएं थीं। जहां तक प्राकृतिक संसाधनों का मामला है एशिया और अफ्रीका दोनों जगह इस बात के पर्याप्त सबूत मौजूद हैं जो शोषण के समर्थन का सबूत पेश करते हैं। धन संपदा की लूट सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं थी। यह बताया गया है कि नीदरलैंड्स द्वारा नियंत्रित ईस्ट इंडीज ने पैदावार पद्धति विकसित की जिससे संसाधन से परिपूर्ण इंडोनेशिया से उत्पाद को पश्चिम के बाजारों तक निर्यात किया गया। इंडोनेशिया से किया गया संसाधनों का हस्तांतरण भारत से होने वाले हस्तांतरण से ज्यादा था। उच्च साम्राज्य ने इंडोनेशिया के राष्ट्रीय उत्पाद का 17 प्रतिशत ले लिया जो 1921-38 में उच्च घरेलू उत्पाद का 8 प्रतिशत था। एशियाई अर्थव्यवस्था के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन सिर्फ यूरोपीय सत्ताओं तक ही सीमित नहीं था, जापानियों ने कोरिया, मंचूरिया और बाद में चीन के संसाधनों का दोहन किया।

औद्योगिक उत्पादों का निर्यात औपनिवेशिक दुनिया के आर्थिक विकास और वस्तुओं के निर्यात पर निर्भर था। किसानों के अत्यधिक शोषण ने उनकी क्रय शक्ति को कम कर दिया और साम्राज्यवादी देशों में तैयार मालों के बाजार के विस्तार को कठिन कर दिया। औपनिवेशिक देशों में दबदबा कायम रखने के लिए कई उपनिवेशवादी देशों को वहां के घरेलू उद्योगों के विकास को रोकना पड़ा। ऐसा 19वीं शताब्दी के दौरान मुक्त व्यापार की नीति का अनुपालन कर के किया गया जब ब्रिटेन कपड़ों, रेलवे उपकरणों, स्टील और मशीनों का अग्रणी निर्यातक था। नए उद्योगों जैसे रसायन, बिजली, और मोटर ट्रांसपोर्ट एशिया और अफ्रीका के औपनिवेशिक देशों पर कम निर्भर थे। लेकिन वे काफी महत्वपूर्ण हो गए। भारत, दक्षिण अफ्रीका और यहां तक की छोटे देशों में घरेलू उत्पादक वर्ग औपनिवेशिक प्रभुसत्ता का विरोधी हो गया और इसने आर्थिक राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष को बढ़ावा दिया।

अफ्रीका के कई देशों में घरेलू पूंजीपति वर्ग का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तक काफी महत्वपूर्ण नहीं था और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग नहीं था जो राष्ट्रीय राजनैतिक दबाव का इस्तेमाल कर उचित कर, मुद्रा और मौद्रिक नीतियों को बनवा सके। यदि औपनिवेशिक शासन की कम विघटनकारी भूमिका हो तो आर्थिक और राजनैतिक विकास हासिल हो सकता है। औपनिवेशिक शासन से पहले की सवाना जनजातीय संस्कृति जिससे पशुओं के मामले में संपत्ति के अधिकार को संस्थापित किया जो बाद में संपत्ति में भी लागू हुआ से

बाजार संस्कृति विकसित हुई और बोस्टवाना को आजादी के बाद उल्लेखनीय विकास दर हासिल करने में मददगार हुआ। राजनैतिक संस्थाओं के एकीकरण से पारंपरिक सवाना संस्कृति बच गई लेकिन जाम्बिया के बारोत्स और दक्षिण अफ्रीका के बोफुत्सवाना में समाप्त हो गई विघटनकारी औपनिवेशिक प्रभाव के चलते।

हालांकि मंदी के दौरान कुछ घरेलू उद्योग साम्राज्य से होने वाली आयात में कमी के कारण लाभान्वित हुए पर मुट्टी भर देशों जैसे भारत, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के लिए ही आयात की जगह औद्योगीकरण ने काम किया। यहां नोट करने वाली बात यह है कि संपत्ति की लूट का अनुभव और घरेलू अभिजात्यों के कई वर्गों के औपनिवेशिक शोषण से सहयोग ने कई औपनिवेशिक आंदोलनों को पूंजीपतियों के खिलाफ, जमींदारों के खिलाफ और अभिजात्य वर्ग के खिलाफ कर दिया। राजस्व वसूली की उच्च दरें, घरेलू जरूरतों के परे रेल का निर्माण, औपनिवेशिक सत्ताओं का घरेलू अभिजात्य के साथ गठबंधन और कृषि का बाजार के मुताबिक व्यवसायीकरण से आर्थिक दोहन शुरू हुआ, प्रति व्यक्ति आय कम हुई और विध्वंसकारी अकाल हुए। आम लोगों को 1930 की मंदी के दौरान बड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ा। आर्थिक अवसरों की कमी के चलते कई किसानों और आम लोगों को ऐसी ताकतों से जूझना पड़ा जो औपनिवेशिक सत्ता के आर्थिक दोहन के खिलाफ लड़ाई लड़ रहे थे। अफ्रीका के कई हिस्सों में भोजन के लिए मकई पर निर्भर होना पड़ा, खासकर पिछले सौ वर्षों के दौरान। मकई की फसल पर इस अति-निर्भरता का परिणाम इन देशों को आजादी के बाद भुगतना पड़ा।

1980 के शुरुआती दौर में अली मजरूई द्वारा यह प्रस्ताव किया गया कि अफ्रीका में स्वतंत्रता के समय तक सामाजिक वर्गों का समुचित विकास नहीं हो पाया था। अतः जनजातीय पहचान लोकप्रिय आंदोलन को आयोजित करने में महती भूमिका निभाते हैं वर्ग-आधारित पहचान के बजाय। औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ संघर्ष और यूरोपीय व्यापारिक हितों द्वारा संसाधनों के दोहन से आर्थिक असंतोष और जातीय विद्वेष फैला। कुछ अफ्रीकी देशों में लोगों का झुकाव राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रति भारत की तुलना में कम रहा, लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन में शरीक लोगों द्वारा शोषण समान रूप से महसूस किया गया। कई अफ्रीकी देशों में गैर-औपनिवेशिक संघर्षों की सापेक्षिक कमजोरी की वजह से वापस लौट रही औपनिवेशिक सत्ताओं को औपनिवेशिक काल के बाद के देशों में ज्यादा आर्थिक नियंत्रण बनाए रखने की क्षमता मिल गई। पर यह नहीं माना जा सकता कि सभी संघर्ष प्रकृति में राष्ट्रवादी ही थे या यह कि गैर-औपनिवेशिक प्रवृत्ति से राष्ट्रीय आंदोलनों में शामिल होने की प्रेरणा मिली। कई देशों में आम लोगों को बिना आंदोलन में जुड़े ही परेशानियों का सामना करना पड़ा, चाहे वे आंदोलन वर्ग, पंथ या धर्म पर आधारित थे। ये चीन और इंडोनेशिया जैसे बड़े देशों के साथ-साथ छोटे देशों के मामले में भी सही थे।

राष्ट्रवाद का उदय पूंजीवाद के साथ जुड़े सामाजिक वर्गों के विकास के साथ हुआ जैसा स्टालिन और तत्कालीन सोवियत राष्ट्रीयता के सिद्धांत ने प्रतिपादित किया। गेलनर ने कहा कि यह उद्योगीकरण के उदय से जुड़ा है और समाज को बांधने के लिए वंश और परिवार के प्रति निष्ठा के स्थान पर राष्ट्र-राज्य के प्रति निष्ठा के कारण हुआ। ज्यादातर अफ्रो-एशियन राष्ट्रों में राष्ट्रीयता को बढ़ाने में उद्योगीकरण की ज्यादा भूमिका नहीं थी। कृषि आधारित पूंजीवाद और कृषि के व्यवसायीकरण से लाभ कमाए अभिजात्य वर्ग ने राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया। मिश्र और इराक में शक्तिशाली भू-स्वामियों ने, जो दो से तीन हजार परिवारों से ज्यादा नहीं थे, राष्ट्रीयता को बढ़ाने में भूमिका अदा की, और शक्तिशाली किसान आंदोलन को उभरने से रोकने में मदद की। तुर्की और इरान में भी जो लोग भूमि स्वामी थे और दुनिया के बाजार के लिए उत्पादन में लगे थे, वे राष्ट्रीय आंदोलनों के समर्थक

बन गए और घरेलू संपदाओं पर ज्यादा नियंत्रण स्थापित किया। बेषक, पढ़े लिखे मध्यम वर्ग ने ज्यादातर राष्ट्रीय आंदोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वास्तव में उद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए पढ़े लिखे मध्यम वर्ग ने अक्सर समाजवाद और साम्यवाद की ओर रुख किया।

भारत में किसानों का आंदोलन अक्सर ऐसे संगठनों के हाथ से निकल गया जो उसे वृद्ध राष्ट्रीय आंदोलन की सीमा में रखना चाहते थे। किसानों और आदिवासियों के कई स्वतंत्र-स्फूर्त आंदोलन मुख्यधारा के राष्ट्रीय आंदोलनों से बाहर रहे। जाहिर तौर पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन बृहद आधार वाला था। हालांकि किसानों का ऊपरी हिस्सा गांधी जी के कार्यक्रमों से अपने आप को ज्यादा जुड़ा महसूस करता था पर राष्ट्रीय आंदोलन एक बहु वर्गीय संघर्ष था जिससे सफल लोकतंत्र के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वयस्क मतदान को आधार बनाया गया। चीन में जापानियों के खिलाफ युद्ध में सफलता किसान आधारित आंदोलन से मिली जिनमें देशभक्त भू-स्वामी शामिल थे। चीनी आंदोलन माओ के साम्राज्य के खिलाफ नए लोकतंत्र के विचार पर आधारित था। राष्ट्रीयता और समाजवाद आपस में नजदीकी रूप से जुड़े थे। हालांकि चीनी रेड आर्मी ने जांग गुवोटाओ के नेतृत्व में तिब्बतियों में 1935-36 में छह सोवियत प्रभुत्व स्थापित किया जो वर्ग संघर्ष पर आधारित थे लेकिन यह मुख्यधारा की आधिकारिक नीति नहीं थी।

उन देशों में जहां आर्थिक राष्ट्रवाद मजबूत था और जन आधारित राष्ट्रवाद बृहदाकार था, उनमें स्वतंत्रता के बाद आर्थिक विकास संभवतः बड़े पैमाने पर हुआ। शीत युद्ध की सोच के मुताबिक पूर्वी एशिया में स्थिति काफी जटिल थी, जबकि जापान, दक्षिण कोरिया और ताईवान में अमेरिकी निवेश के चलते विकास दर उच्च थी। कृषि सुधारों के परिपेक्ष्य में, शिक्षा में सार्वजनिक निवेश और निर्यात आधारित क्षेत्र में विदेशी निवेश के चलते विकास काफी तेज हुआ था। इसके उलट, अफ्रीका में शीत युद्ध का सैनिक तानाशाही, अपिक्षा, और धार्मिक टकरावों के चलते ऐसा सकारात्मक प्रभाव नहीं था। यहां तक कि जिम्बाबे में 1980 में चरमपंथी नेता रॉबर्ट मुगाबे को सत्ता हस्तांतरण के कारण, जिन्हें मार्गट थैचर के नेतृत्व वाली कंजर्वेटिव पार्टी की सरकार नहीं चाहती थी, एक स्थाई सरकार दो दशकों तक चली।

दक्षिण अफ्रीका में जो वास्तव में अपने श्वेत अभिजात्य वर्ग के तहत ही आजाद हो गया था और 1948 में रंगभेद लागू कर दिया था, अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस के नेतृत्व में छोड़े गए सषस्त्र संघर्ष की वजह से नेल्सन मंडेला के नेतृत्व में अश्वेतों की बहुमत वाली सरकार की स्थापना हुई। नस्लीय सत्ता के खिलाफ संघर्ष को साधारण तौर पर राष्ट्रीयता के रूप में नहीं देखा जा सकता है क्योंकि नस्लभेदी शासन के खिलाफ संघर्ष हमेशा राष्ट्रवादी रूप नहीं लेता है। इसमें समाजवाद, जनजातीयता और धार्मिक भाव होते हैं। इससे भी आगे राष्ट्रीयता के कई पहलू होते हैं—चार अलग राष्ट्रों जिनमें अश्वेत, रंग, एशियाई और श्वेत जिन्हें कांग्रेस गठबंधन ने मान्यता दी थी, क्योंकि जनता रंगभेद के खिलाफ एंटी रेसियल आंदोलनों के लिए तैयार नहीं थी। दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ आर्थिक प्रतिबंधों ने अफ्रीकियों के संकल्प को कमजोर कर दिया जो रंगभेद की सिद्धांत को जारी रखना चाहते थे जैसा कि दक्षिण अफ्रीका में राष्ट्रवादियों के संघर्ष ने किया। इस बात के पर्याप्त सबूत मौजूद हैं कि रोबेन द्वीप के कैदी को अपेक्षाकृत सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण विदेशी कंपनियों के खनन के हितों को ध्यान में रखकर किया गया हो और अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस बात को आप्क्षत किया कि वो अश्वेत नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका की तरक्की को जारी रखेगी। द द्रूथ और रिकन्सिलेशन कमीशन ने जातीय विद्वेष को शांत किया और शांतिपूर्ण सत्ता का हस्तांतरण सुनिश्चित किया।

---

## 2.7 सारांश

---

ऐतिहासिक दस्तावेज किसी साधारण सिद्धांत का समर्थन नहीं करते हैं जो राष्ट्रीयता या राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय का कारण बताए। राष्ट्रवाद पूंजीवाद के विकास या उद्योगीकरण से आवश्यक रूप से जुड़ी नहीं है हालांकि यह राष्ट्रीय झुकाव का आधार तैयार करता है। भाषा और प्रिंट पूंजीवाद राष्ट्रीयता के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं लेकिन कई मामलों में राष्ट्रवादी अभिजात्य वर्ग ने राष्ट्रीय भाषाओं और सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार से राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया है। भाषा राष्ट्रीयता का हमेशा आधार नहीं होती है क्योंकि धर्म ने भी राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया है। धार्मिक राष्ट्रवाद कई मध्य-पूर्व देशों में महत्वपूर्ण रहा है हालांकि राष्ट्रवाद के दूसरे सूत्र भी इस क्षेत्र में मौजूद हैं। राष्ट्रवाद और सीमाओं पर जोर, संप्रभुता और एकल पहचान राष्ट्रीय अल्पसंख्यक और उप राष्ट्रीयता या वैकल्पिक राष्ट्रवादी सोच तैयार करती हैं। राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचारधारा है जो बनाई गई है लेकिन जो पूर्ण रूप से आभासी नहीं है। पंथ और भाषा का उद्भाव खुद में ऐतिहासिक विकास के कारण हुआ है। राष्ट्रवादी गोलबंदी के दौरान किए गए गठबंधन राष्ट्रीयता के उद्भव के कारण हैं। राष्ट्रवाद के उदय को पश्चिमी और गैर-पश्चिमी विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में नहीं समझा जा सकता है।

---

## 2.8 अभ्यास

---

- 1) कुछ राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन अहिंसक संघर्ष के मार्ग पर क्यों रहे जबकि कई अन्य आंदोलनों ने औपनिवेशिक शासन के विरोध में हिंसा का मार्ग अपना लिया?
- 2) एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रों के बौद्धिक और सामाजिक स्तर पर उद्भव की विवेचना कीजिए।
- 3) कुछ राष्ट्रवादी आंदोलनों के आर्थिक संदर्भों पर चर्चा कीजिए।

---

## इकाई 3 भारतीय राष्ट्रवाद पर परिप्रेक्ष्य—1\*

---

### संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य
- 3.3 राष्ट्रवादी विचार
- 3.4 मार्क्सवादी नजरिया
- 3.5 सारांश
- 3.6 अभ्यास

---

### 3.1 प्रस्तावना

---

पिछली इकाइयों में आपने यूरोप, अफ्रीका और एशिया के विभिन्न हिस्सों में राष्ट्रवाद के उभार और उसके विकास पर विचारों के बारे में पढ़ा। इस इकाई और इसकी अगली में हम भारत में राष्ट्रवाद के अध्ययन के लिए विभिन्न नजरियों पर बातचीत करेंगे। ये विचार तकरीबन एक शताब्दी से ज्यादा समय के दायरे में फैले हुए हैं और इनमें एक दूसरे के बीच बहुत सारे बिंदुओं पर सहमति और असहमति है। इस इकाई में हम भारतीय राष्ट्रवाद पर उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी नजरिये पर बातचीत करेंगे।

---

### 3.2 उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य

---

भारतीय इतिहास के उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य को एक परिपक्व रूप 19वीं सदी में मिला। जेम्स मिल की *हिस्ट्री ऑफ इंडिया* से शुरू करके उपनिवेशवादी विचार बहुत सारे अंग्रेजी इतिहासकारों के कामों में पाया जा सकता है। माउंट स्टुअर्ट एल्फिंस्टोन, हेनरी इलियट और जॉन डाउसन, डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर और विंसेंट स्मिथ ऐसे कुछ महत्वपूर्ण इतिहासकार हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास की व्यापक व्याख्याएं की हैं। उपनिवेशवादी विचार ने एक राष्ट्र के तौर पर भारत के विचार को खारिज किया है। भारत की विविधता और एकता के अभाव पर उपनिवेशवादी विचारकों ने ज्यादा जोर दिया है। ऐसा वो अपने औपनिवेशिक शासन को जायज ठहराने के लिए करते थे और उनके विचार में भारत को एक करने में औपनिवेशिक शासन की ही भूमिका है। औपनिवेशिक शासन के शुरुआती दिनों से ही भारत को एक शत्रुतापूर्ण संघर्ष की जमीन के तौर पर पेश किया गया। डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर, हर्बर्ट रिस्ले और कई दूसरों ने देश का ढेर सारे आदिवासियों और जातियों में विभाजन और वर्गीकरण के जरिए इस बात को साबित करने का प्रयास किया। जब 19वीं सदी के आखिर में राष्ट्रीय आंदोलन उभरना शुरू हुआ और 20वीं सदी में परिपक्व हो गया तो जॉन स्ट्रैची और जॉन सीले ने इस बात को जोरदार तरीके से कहा कि भारत में एक राष्ट्र का बनना तकरीबन असंभव है क्योंकि इसमें राष्ट्र की कभी विशेषता रही ही नहीं और न ही भविष्य में ऐसा कभी होगा। उनके मुताबिक भारत एक विभिन्न और कई बार आपस में विरोधी धर्मों, नृजातियों, भाषाई और क्षेत्रीय समूहों का जमावड़ा है जिन्हें कभी भी एक राष्ट्र के तौर पर बांधा नहीं जा सकता है।

---

\*इकाई लेखक : प्रो. शशिभूषण उपाध्याय

राष्ट्रवादी आंदोलन के बढ़ने और भारतीय राष्ट्र की मौजूदगी की राष्ट्रवादी दावेदारी के साथ उपनिवेशवादी विचारकों और इतिहासकारों के लिए इसका विरोध करना और ज्यादा जरूरी हो गया। इसको उन्होंने मध्यवर्ग के कुछ स्वार्थी सदस्यों या फिर बंगाली बाबुओं का आंदोलन करार देकर इसे खारिज करने की कोषिष की। इस मामले में सबसे तगड़ा बयान वैंलेंटाइन चिरोल की तरफ से आया जिसने अपनी किताब *इंडियन अनरेस्ट* (1910) में कहा कि भारत केवल एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है और इस भूगोल का निर्माण भी अंग्रेजों ने ही किया है। उनके विचार के मुताबिक भारत 'नस्लों और समूहों, जातियों और पंथों की विचित्र गड़बड़ी है' जो कभी भी एक राष्ट्र के तौर पर विकसित नहीं हो सकता है। वास्तव में ये 'उन सभी चीजों का विरोधी है जिससे राष्ट्रीय शब्द किसी भी रूप में जुड़ा हुआ है।' नतीजे के तौर पर भारत 'विभिन्न प्रकार के राष्ट्रों का निवास स्थल है' और भारत में 'यूरोप के मुकाबले अलग-अलग ज्यादा किस्म की भाषाएं बोली जाती हैं।' और 'वहां जर्मन और पुर्तगाली के मुकाबले मराठा और बंगाली के बीच ज्यादा नस्लीय मतभेद पाए जाते हैं।' यह केवल अंग्रेजी शासन था 'जिसने प्राचीन कालीन इतिहास के इस विभेद को किसी बड़ी कलह में बदलने से रोक दिया।' इस तरह से उनके लिए 'भारत' शासन के लिए अंग्रेजों द्वारा बनाए गए एक भौगोलिक निर्माण से ज्यादा कुछ नहीं था।

उसी तरह से विसेंट स्मिथ के मुताबिक भारतीयों के बीच एकता के बुनियादी कमी थी। प्राचीन भारत में बड़े साम्राज्यों के शासन के छोटे काल के अलावा भारतीय राजनीतिक संरचना हमेशा 'आपस में प्रतिरोधी अणुओं' को समाहित किए हुए थी। हिंदू राज्यों के बीच किसी एकता के अभाव के चलते वे 'अरबों, तुर्कों और अफगानियों की कट्टर संगठित भीड़ का शिकार हो गए।' यह एकता-विरोधी स्थिति केवल तभी दुरुस्त हो सकती थी जब बाहर से कोई एक अंग्रेजों जैसी केंद्रीय व्यवस्था हस्तक्षेप करती। भारत एक बार, फिर खंड-खंड हो जाएगा 'अगर उदार तानाशाही का हाथ, जिसने उसे अपने लौह पाश में बांधा हुआ है, को वापस खींचा जाता है।' (औपनिवेशिक ऐतिहासिक विचारों को विस्तार से देखने के लिए, शशिभूषण उपाध्याय, 2016 को देखिए )

इन मतों के मुताबिक वहां किसी भी तरह के ऐसे आंदोलन की संभावना नहीं थी जिसे राष्ट्रीय कहा जा सके। यहां तक कि प्रथम विष्व युद्ध के समय, जब राष्ट्रीय आंदोलन एक जन आंदोलन के तौर पर उभरा और अखिल भारतीय सच्चाई बनकर सामने आ गया, तब भी औपनिवेशिक इतिहासकार उसके प्रभाव को लेकर सवाल उठाने लगे और उसके राष्ट्रीय चरित्र को खारिज करने के लिए धार्मिक, जातीय और भाषाई विभाजनों को प्रचारित करने का प्रयास करने लगे।

### 3.3 राष्ट्रवादी विचार

भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आंदोलन पर राष्ट्रवादी विचार का निर्माण औपनिवेशिक विचार की प्रतिक्रिया के तौर पर हुआ। हांलाकि राष्ट्रवादी लेखकों ने औपनिवेशिक इतिहास लेखन द्वारा पेश कुछ विचारों को स्वीकार कर लिया लेकिन उन्होंने भारत और उसके लोगों को खारिज करने की उपनिवेशवादियों की साजिष का जमकर विरोध किया। बहुत सारे औपनिवेशिक इतिहासकारों के यांत्रिक नजरिये के उलट राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने एक विचार केंद्रित नजरिये को अपनाया। उनके बीच मुख्यतः दो दृष्टिकोण थे: कुछ लोगों के मुताबिक पश्चिम के प्रभाव में राष्ट्रवादी विचार को अपनाया गया जबकि कुछ दूसरों का कहना था कि यह प्राचीन इतिहास काल के समय से ही मौजूद था। राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दिनों में उदार राष्ट्रवादी आमतौर पर सोचते थे कि स्वतंत्रता की यह भावना प्राथमिक तौर पर पश्चिमी प्रभावों के चलते उभरी थी। इन लेखकों के मुताबिक पश्चिमी

शिक्षा और स्वतंत्रता के विचारों का प्रसार राष्ट्रीय जागरूकता के निर्माण के लिए बुनियादी तौर पर जिम्मेदार थीं। बाद में जब राष्ट्रीय आंदोलन तेज हुआ तो लेखकों ने इस तरह के विचारों की अपने देश की जड़ों में तलाश शुरू कर दी। राष्ट्रवाद के ये दोनों नजरिये बहुत सारे राष्ट्रवादी इतिहासकारों के लेखनों में बने हुए थे। कई बार एक ही इतिहासकार अलग-अलग लेखन में अलग-अलग नजरिया पेश करता था। इस तरह से इन दृष्टिकोणों को बुनियादी तौर पर विचार के रूप में चिन्हित किया जाना चाहिए न कि अलग-अलग इतिहासकारों के मुताबिक।

पहले नजरिए के अनुसार, पश्चिमी विचारों के प्रचार के कारण भारत में विक्षोभ की पैदाइश ने अंग्रेजी-शिक्षित मध्य वर्ग को राष्ट्रवादी चेतना जागृत करने के लिए तैयार किया। आजादी और स्वतंत्रता को मजबूत करने के लिए उनकी इच्छा ने उनकी देशभक्ति के अहसास को मजबूत किया। खुद की अभिव्यक्ति और अपनी दावेदारी के लिए रास्ते की तलाश भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नतीजे के तौर पर सामने आई। बिषेष्वर प्रसाद के मुताबिक 'स्वतंत्रता को खोने और विदेशी के वर्चस्व के भय ने लोगों के दिलों में विक्षोभ पैदा किया'। और यह तीव्र अहसास अंग्रेजों के स्थापित होने के बाद ढेर सारे विद्रोहों के रूप में सामने आया जो आखिर में 1857 के महान विद्रोह में परिणत हुआ। उसके बाद इसने अपने को अभिव्यक्त करने के लिए नये रास्तों की तलाश कर ली। इससे भी आगे बाद के अतिवादी दौर का राष्ट्रीय आंदोलन आर जी प्रधान, बी प्रसाद, आर सी मजूमदार और लाजपत राय जैसे लेखकों द्वारा "बेहतर विचार और स्वतंत्रता की ज्यादा महान भावना, या ज्यादा साहस और लगन वाले बेहतर नेता, मजबूत देशभक्ति और कष्ट सहने और बलिदान देने की ज्यादा क्षमता रखने वालों" के नतीजों के तौर पर सामने आया। इस तरह से जैसे बिपन चंद्र कहते हैं 'उदार राष्ट्रवादी लेखक अपने को इतिहास के हिंग विचार पर आधारित करने की तरफ बढ़े और राष्ट्रीय आंदोलन को राष्ट्रवाद की भावना या विचार के अहसास या प्रसार के परिणाम के तौर पर देखा।' (बिपन चंद्र 1986, 199, 197)

आधुनिक समय में बहुत सारे राष्ट्रवादी चिन्तक और राष्ट्रवादी इतिहासकार भारत को एक निर्मित राष्ट्र के तौर पर नहीं मानते थे। वे सुरेंद्र नाथ बनर्जी की कतार में राष्ट्र को बनने की प्रक्रिया के तौर पर देखते थे। उनके मुताबिक राष्ट्रवादी आंदोलन का काम विभिन्न इलाकों और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से लोगों को उनकी साझा शिकायतों पर आधारित कर एकत्रित करना है। आर. सी. मजूमदार का कहना था कि 'एक साझी जन्मभूमि के तौर पर भारत की कल्पना करना अभी भी एक फंतासी था। आज जिस तरह से समझा जाता है, ऐसा कोई भारत नहीं था। वहां केवल बंगाली, हिंदुस्तानी, मराठा, सिख आदि थे, लेकिन 19वीं सदी की शुरुआत में कोई भारतीय नहीं था।' उनके अनुसार यह कांग्रेस द्वारा संचालित आंदोलन था जिसने 'भारतीय एकता के आदर्श को एक सच्चा रूप दिया।' तारा चंद्र भी यही सोचते थे कि एक भारतीय राष्ट्र का निर्माण एक हाल की अवधारणा है जो एक साझा आर्थिक और राजनीतिक बदलावों के चलते उभरी।' (बिपन चंद्र 1986, 213)

फिर भी, देश में एक और बेहद शक्तिशाली प्रवृत्ति थी जो इस बात का दावा करती थी कि प्राचीन काल से ही भारत एक राष्ट्र था। राधाकुमुद मुखर्जी ने अपनी पुस्तक *फंडामेंटल यूनिटी ऑफ इंडिया* (1914) और दूसरी पुस्तकों में बहुत मशहूर तरीके से अपने विचार को सामने रखा था कि भारत महान था और प्राचीन काल से ही एक था। उनके मुताबिक, शुरुआती समय से ही एक भौगोलिक एकता की भावना मौजूद थी और यहां तक कि राष्ट्रवाद का विचार पहले से ही भारत में मौजूद था। हर बिलास सारदा ने अपनी किताब *हिंदू सुपिरियोरिटी* (1906) में घोषित किया कि 'अभी तक फले-फूले राष्ट्रों में प्राचीन हिंदू सबसे महान राष्ट्र था।' लाजपत राय (1865-1928) ने अपनी *यंग इंडिया* (1916) में इस बात पर जोर दिया कि 'बुनियादी तौर पर भारत पिछले 2000 साल से एक राष्ट्र है।' (बिपन



चंद्र 1986, 214) अपनी *हिंदु पोलिटी* (1924) में के.पी. जायसवाल ने कहा कि आधुनिक ब्रिटेन के लोग जिन चीजों के होने का दावा करते हैं भारतीयों के पास वह सब था: बड़ा साम्राज्य, स्थायी और कामयाब गणतंत्र, प्रतिनिधिमूलक चुनी हुई संस्थाएं, मजबूत संसदें, एक संवैधानिक राजतंत्र और कार्यकारी अधिकारियों के ऊपर कानून की श्रेष्ठता।

एक दूसरे स्तर पर, रविंद्र नाथ टैगोर ने भारत को एक ऐसी सभ्यता के तौर पर पेश किया जहां ग्रीक, शक, हूण, तुर्क, पारसी, अफगान आदि जैसे विदेशी हमलावर आए और प्रकृति में शामिल होकर उन्होंने इसकी संस्कृति को समृद्ध करने का काम किया। भारत न केवल एक भू-इकाई था बल्कि एक ज्यादा व्यापक सभ्यतागत और सांस्कृतिक एकता का मालिक था। इसी समावेशी और शामिल कर लेने की भावना और कोई हानिकारक राजनीतिक कलह के न होने की स्थिति में टैगोर ने भारत की राष्ट्रीय पहचान को चिन्हित किया और इसे यूरोपीय राष्ट्रवाद से अलग किया। ठीक उसी तर्ज पर गांधी ने भी भारत के इतिहास को देखा और फिर भविष्य के भारत की कल्पना की। सुभाष चंद्र बोस ने अपनी किताब *इंडियन स्ट्रगल* में कहा है कि अंतहीन विविधताओं के बाद भी भारत 'बुनियादी एकता' का मालिक है। जवाहरलाल नेहरू ने भी 'अनेकता में एकता' की बात कही और 'विविधता के बीच एक सांस्कृतिक एकता, अंतर्विरोधों की एक पूरी गठरी एक मजबूत लेकिन अदृश्य धागे से बंधी हुई'।

आजादी की भावना के अतिरिक्त राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आंदोलन के खड़ा होने के पीछे ढेर सारे कारकों पर जोर दिया है—आमतौर पर औपनिवेशिक शासकों का असहयोगी रवैया, वायसराय लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियां, इल्बर्ट बिल विवाद, आधुनिक शिक्षा, प्रिंटिंग प्रेस, आधुनिक साहित्य और आखिरी तौर पर बंगाल का विभाजन। अंग्रेजों द्वारा भारत में नस्लीय श्रेष्ठता की प्रदर्शित भावना और कुछ मामलों में नस्लीय उत्पीड़न की सरकारी नीति ने भारतीयों को अपमानित किया और फिर उनके दिमाग में कड़वाहट भरी।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने ऐसे आर्थिक कारकों को भी चिन्हित किया जिन्होंने भारतीय लोगों में अलगाव की भावना पैदा की। किसानों का शोषण, जमीन का उच्च राजस्व, नील और कुछ दूसरी नगदी फसलों की जबरन पैदावार, दौलत का बाहर जाना, भारतीयों के खिलाफ इस्तेमाल की जाने वाली या फिर भारत से कुछ न लेने—देने वाली लड़ाइयों में भेजी जाने वाली बड़ी सेना के रखरखाव के लिए गैर जरूरी खर्च और इसी तरह की कुछ दूसरी चीजें।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादी शासन और पूरे भारतीयों के बीच जारी अंतर्विरोध को भी चिन्हित किया है। इसके जरिये उन्होंने वर्ग, जाति, भाषा, क्षेत्र, धर्म जैसे भारतीय समाज में मौजूद अंतर्विरोधों को एक अखिल भारतीय साम्राज्यवाद—विरोधी मोर्चे के पीछे दबा दिया। राष्ट्रवादी इतिहासकारों के मुताबिक राष्ट्रवादी आंदोलन भारतीय समाज के सभी वर्गों का आंदोलन था। क्योंकि सारे भारतीयों का साम्राज्यवाद से अंतर्विरोध था इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन ने साम्राज्यवाद के खिलाफ भारतीय लोगों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया। जैसा कि कांग्रेस के एक महत्वपूर्ण नेता पट्टाभि सीतारमैया का दावा था कि 'उस समय कांग्रेस एक ऐसा राष्ट्रीय संगठन था जिसने ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत के बीच, एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश, वर्गों और लोगों, शहरों और गांवों, दौलतमंद और गरीबों, किसानों और उद्योगपतियों के हितों, जाति और समुदायों या धर्मों के बीच कोई अंतर नहीं समझा।' (बिपिन चंद्र 1986, 218-19)

राष्ट्रवादी इतिहासकारों आमतौर पर विष्वास करते थे कि आम लोग स्वतंत्र कार्यवाही के लिए सक्षम नहीं हैं और उन्हें मध्यवर्गीय नेताओं के द्वारा गोलबंद किया जाना था। इस तरह से सुरेंद्र नाथ बनर्जी ने 1911 में लिखा कि 'जहां भी आपके पास मध्यवर्ग होगा तो आपके पास

बौद्धिकता, आजादी, प्रगति और समृद्धि होगी। बंगाल में मध्य वर्ग का उभार इसलिए अपने समय की सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण और निश्चित करने वाली परिघटना थी।' लाजपत राय ने टिप्पणी की कि 'जनता को आसानी से सरकारें या फिर सरकारों से जुड़े वर्ग दिग्भ्रमित कर देते हैं। प्रत्येक देश में शिक्षित मध्यवर्ग राजनीतिक स्वतंत्रता या फिर राजनीतिक प्रगति के आंदोलन का नेतृत्व करता है।' सी एफ एंड्रयूज और गिरिजा मुखर्जी ने भी 1938 में अपनी किताब *द राइज एंड ग्रोथ ऑफ द कांग्रेस इन इंडिया* में लिखा है कि 'अखिल भारतीय आंदोलन की ताकत उसके नये शिक्षित मध्यवर्ग के साथ जुड़ती है... इस तरह से कांग्रेस द्वारा शुरू किया गया राष्ट्रीय आंदोलन भारत में मध्य वर्ग की सामाजिक आकांक्षाओं और उसकी स्वतंत्रता और नस्लीय न्याय की सर्वोच्च चाहत दोनों का प्रतिनिधित्व करता था।'

राष्ट्रवादी इतिहासकार सोचते हैं कि राष्ट्रभक्ति और देश के कल्याण से प्रेरित राष्ट्रवादी नेता प्रतिबद्ध आदर्शवादी थे। यहां तक कि मध्य वर्ग से आने के बावजूद उनके विचार से राष्ट्रवादी नेताओं का अपना कोई निजी, समूहगत या फिर वर्ग हित नहीं था और वे राष्ट्र और भारतीय जनता के प्रति पूरी तरह से समर्पित थे। वे खुद से नहीं बोल पाने वाले देश के बेजुबानों की बहुमत की निःस्वार्थ आवाज थे। वे सभी वर्गों, समुदायों और समूहों का प्रतिनिधित्व करते थे और राष्ट्रीय, धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील राजनीति को आगे बढ़ाने का काम करते थे।

### 3.4 मार्क्सवाद नजरिया

मार्क्सवादी इतिहासकार भारतीय राष्ट्रवाद पर औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी दोनों विचारों के आलोचक थे। वे भारत और उसके लोगों के प्रति भेदभावपूर्ण नजरिया रखने के लिए औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य की आलोचना करते थे, जबकि राष्ट्रवादी टिप्पणीकारों की राष्ट्रवाद की तलाश में प्राचीन जड़ों में जाने के लिए आलोचना करते थे। वे दोनों को राष्ट्रवाद की अपनी अवधारणा के विश्लेषण में आर्थिक कारकों और वर्गीय विभेदों की तरफ ध्यान न देने के लिए आलोचना करते थे।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य उत्पादन और वर्गों की प्रणाली के विश्लेषण को अपना आधार बनाता है। मार्क्सवादी इतिहासकार इस बात को मानते थे कि साम्राज्यवाद और भारतीय समाज के बीच एक बुनियादी अंतर्विरोध था। लेकिन उसके साथ ही वे भारतीय समाज के भीतर मौजूद वर्गीय अंतर्विरोध को भी नहीं खारिज करते थे। वे इन प्रक्रियाओं की व्याख्या उपनिवेशवाद के भीतर आने वाले आर्थिक बदलावों के सदंर्भ में करने की कोषिष करते थे और आखिरी तौर पर उनका विष्वास था कि भारत हमेशा से एक राष्ट्र नहीं था बल्कि एक ऐसा राष्ट्र है जो आधुनिक समय में बना है जब राष्ट्रवादी आंदोलन ने देश में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी।

वर्ग और उत्पादन की प्रणाली की इन सभी विश्लेषण की श्रेणियों को लागू करने के जरिये 1920 के दशक में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट आंदोलन की एक बड़ी शख्सियत एम एन राय ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक सार्वभौम ढांचे में पेश किया। अपनी किताब *इंडिया इन ट्रांजीशन (1922)* में उन्होंने कहा कि अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद के विकास के किसी निश्चित मुकाम पर यह आंदोलन विकसित होता था। उनका यह विचार था कि भारत पूंजीवाद की तरफ अग्रसर है और वैश्विक पूंजी के दायरे में पहले ही आ गया है। इस तरह से भारत में वर्चस्ववाली वर्ग सामंत नहीं बल्कि अब बुर्जुआ है। सामंती वर्चस्व के सदंर्भ में उभरता हुआ राष्ट्रीय बुर्जुआ अक्सर क्रांतिकारी होता है। हालांकि भारत में क्योंकि सामंतवाद अपनी आखिरी सांसें ले रहा था, बुर्जुआ प्रकृति में पुरातनपंथी हो गया था और मौजूदा

व्यवस्था को बनाए रखना चाहता था। ऐसी स्थिति में केवल मजदूर ही क्रांतिकारी हो सकते थे।

भारतीय राष्ट्रवाद के मुद्दे पर राय का मानना था कि ये स्थानीय पूंजीवाद की राजनीतिक विचारधारा थी जो 19वीं सदी के आखिर और 20वीं सदी की शुरुआत में साम्राज्यवाद के साये में विकसित हुई। यह पहले विष्व युद्ध के बाद स्थानीय पूंजी के विकास के साथ परिपक्व हुई। यह दौर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विकास का भी गवाह बना। इस तरह से राय के लिए भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन 'युवा बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं और राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधि बना।'

तकरीबन 25 साल बाद आर. पी. दत्त ने अपनी मसूदा किताब *इंडिया टुडे* (1947) में भारतीय राष्ट्रवाद की सबसे प्रभावशाली मार्क्सवादी व्याख्या का निर्माण किया। दत्त ने इस बात को कहा कि 1857 का विद्रोह अपने मूल चरित्र में पुराने रुढ़िवादी और सामंती ताकतों और हटाए गए रजवाड़ों का विद्रोह था। इस तरह से केवल 19वीं सदी के आखिरी चौथाई में दत्त ने भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के शुरुआत की तलाश की। 1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस आंदोलन का मूल संगठन था। दत्त ऐसा मानते थे कि यद्यपि भारतीय मध्य वर्ग की पहले की गतिविधियों ने इसकी पृष्ठभूमि तैयार की लेकिन 'कांग्रेस वजूद में तब आई जब अंग्रेजी हुकूमत की नीति के दिशा निर्देशन में सीधे पहल के जरिये लोकप्रिय विक्षोभ की ताकतों के उभार और अंग्रेज विरोधी भावना के खिलाफ अंग्रेजी हुकूमत के हितों की रक्षा के लिए इसे एक हथियार के तौर पर वायसराय के साथ गुप्त तरीके से मिलकर बनाया गया था।' हालांकि दत्त कहते हैं कि लोकप्रिय राष्ट्रवादी भावनाओं को देखते हुए कांग्रेस ने धीरे-धीरे अपनी वफादारी के चरित्र को खत्म कर दिया और फिर उसने एक राष्ट्रीय भूमिका अपना ली। इसके नतीजे के तौर पर वह एक मजबूत उपनिवेश-विरोधी ताकत के तौर पर उभरी जिसने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जन आंदोलन का नेतृत्व करना शुरू कर दिया।

भारतीय राष्ट्रवाद के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी वर्गीय विश्लेषण को लागू करते हुए उन्होंने कहा कि समय के साथ कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन का वर्गीय आधार बदल गया। इस तरह से शुरुआती सालों में भारतीय राष्ट्रवाद ने केवल बड़े बुर्जुआ-भूस्वामियों के बीच के प्रगतिशील तत्वों, नया औद्योगिक बुर्जुआ और बुद्धिजीवियों के बीच के संपन्न लोगों का प्रतिनिधित्व किया। बाद के सालों और प्रथम विष्व युद्ध के शुरु होने के साथ शहरी निम्न बुर्जुआ वर्ग ज्यादा प्रभावशाली बनकर सामने आया। युद्ध के बाद भारतीय जनता-किसान और औद्योगिक मजदूर वर्ग-ने अपनी मौजूदगी का अहसास कराया।

दत्त का कहना है कि फिर भी नेतृत्व संपत्तिशाली वर्गों के हाथ में ही बना रहा जो कांग्रेस में प्रभावशाली बने हुए थे। ये तत्व आंदोलन को क्रांतिकारी होने से रोकते रहे जो खुद उनके हितों के लिए ही खतरनाक साबित हो सकता था। दत्त खासकर गांधी के प्रति बेहद कठोर थे जिन्हें वह 'बुर्जुआ का मुखौटा' मानते थे। उन्होंने जोर देकर कहा कि असहयोग आंदोलन उस समय रोक दिया गया जब व्यापक जनता हिंसक हो रही थी और यह कांग्रेस के भीतर और बाहर दोनों संपन्न वर्ग के लिए एक खतरा बन गई थी। नागरिक अवज्ञा आंदोलन भी उसी हथकड़ी का शिकार हुआ 'जब उसे भी एकाएक समाप्त कर दिया गया जब वह 1932 में अपने सबसे ऊंचाई की तरफ बढ़ रहा था।' दत्त के मुताबिक कांग्रेस का 'दोहरा चरित्र' था जो पूरे इतिहास के दौरान बरकरार रहा और यही पूरे भारतीय बुर्जुआ का चरित्र बना रहा। एक तरफ इसके साम्राज्यवाद के साथ अंतरविरोध ने इसे औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जन आंदोलन के लिए प्रेरित किया। लेकिन दूसरी तरफ इसके हिंसक हो जाने का डर था, जो उसके हितों और विशेषाधिकारों के लिए खतरा था, जो उसे साम्राज्यवाद के साथ

सहयोग के लिए खींच लाता था। इसलिए पूरे राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इसने एक दुलमुल रवैया अपनाया। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर मार्क्सवादी इतिहासलेखन में दत्त के लेखन ने एक प्रवृत्ति को स्थापित करने का काम किया। बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों के लेखन कम या ज्यादा इससे प्रभावित दिखे।

दत्त की किताब के बाद 1948 में ए.आर. देसाई की किताब *सोषल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* आई। औपनिवेशिक काल और मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से राष्ट्रवाद के उभार का यह भी एक विस्तृत विवरण है। देसाई के मुताबिक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पांच चरणों में विकसित हुआ। प्रत्येक चरण एक खास सामाजिक वर्ग पर आधारित था जिसने उसकी मदद की और बरकरार रखा। पहले चरण में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन मूलतः उन बुद्धिजीवियों द्वारा शुरू और समर्थित किया गया जो शिक्षा की आधुनिक अंग्रेजी प्रणाली की पैदाइश थे। यह चरण जो राम मोहन राय और उनके समर्थकों के साथ शुरू हुआ, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1985 में स्थापना तक जारी रहा। उसके बाद एक नये चरण में राष्ट्रीय आंदोलन ने नये बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व किया, जो भारत में विकसित होना शुरू हो गया था, हालांकि यह अभी भी शैशव काल में था। आधुनिक शिक्षा ने एक मध्य वर्ग का निर्माण कर दिया था। भारतीय और अंतरराष्ट्रीय व्यापार ने एक व्यापारी वर्ग को भी विकसित कर दिया था और आधुनिक उद्योगों ने उद्योगपतियों के एक वर्ग को तैयार कर दिया था। इस तरह से इसके नये चरण में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने 'शिक्षित वर्ग के लोगों की मांग को अपने हाथ में लिया, साथ ही व्यापारिक वर्ग के भी हितों को अपने साथ रखा जो सेवाओं के भारतीयकरण की मांग कर रहा था। इसके अलावा भारतीयों का राज्य के प्रभानिक तंत्र शामिल होना, धन की निकासी को रोकना और इसी तरह की ढेर सारी दूसरी मांगें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्तावों में पारित की गईं।'

राष्ट्रीय आंदोलन का तीसरा चरण स्वदेशी आंदोलन के साथ शुरू हुआ और फिर 1918 तक जारी रहा। इस चरण में राष्ट्रीय आंदोलन ने तुलनात्मक तौर पर एक बड़े सामाजिक आधार को पकड़ा जिसमें निम्न मध्य वर्ग के हिस्से भी शामिल थे। चौथा चरण में रौलट सत्याग्रह से शुरू होकर 1934 में सविनय अवज्ञा आंदोलन पर समाप्त हुआ। जो आंदोलन अब तक केवल ऊपरी और मध्य वर्ग तक सीमित था अब आम जनता के कुछ हिस्सों तक फैलने लगा। हालांकि देसाई के मुताबिक कांग्रेस का नेतृत्व अभी भी उनके हाथों में रहा जो भारतीय पूंजीपति वर्ग के मजबूत प्रभाव में थे। 1918 के बाद औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग 'महात्मा गांधी की अगुवाई वाली कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यक्रम, नीतियां, रणनीतियां, कार्यनीति और संघर्ष के रूपों को तय करने का काम करता था।' इस दौरान दो और महत्वपूर्ण विकास हुए, उनमें 1920 के दशक से वाम समूहों का उभार जिसने राष्ट्रीय आंदोलन में जनपक्षीय मुद्दों को प्रवेश दिलाने की कोषिष शुरू कर दी और दूसरा सांप्रदायिक ताकतों की गोलबंदी जिनका लक्ष्य समाज को बांटना था।

पांचवे चरण में (1934-39), कांग्रेस के भीतर गांधीवादी विचारधारा को लेकर भी विक्षोभ शुरू हो गया था। नतीजे के तौर पर कांग्रेस सोषलिस्ट सामने आए जो निम्न बुर्जुआ तत्वों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। कांग्रेस के बाहर किसानों, मजदूरों, वंचित वर्गों और विभिन्न भाषाई राष्ट्रवादियों के आंदोलन विकसित हुए थे। समाज को बांटने वाली सांप्रदायिक विचारधारा का भी प्रभाव बढ़ रहा था। हालांकि देसाई के मुताबिक इन सब चीजों का बहुत ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और मुख्यधारा पर पूरी मजबूती के साथ गांधीवादी कांग्रेस की पकड़ बनी रही जो वर्चस्ववाली वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी।

ये दोनों किताबें भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन पर मार्क्सवादी सोच की शुरुआत करती हैं। उन्होंने इसे एक ऐसे आंदोलन के तौर पर पेश किया जिस पर बुर्जुआ वर्ग का वर्चस्व था।

उनका मुख्य तर्क यह था कि हालांकि किसान और मजदूर वर्गों समेत विभिन्न वर्ग इसमें शामिल हुए लेकिन इसका बुनियादी चरित्र बुर्जुआ था। अच्छे खासे समय तक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर ये विचार ज्यादातर मार्क्सवादियों के बीच आम बने रहे। सोवियत रूस के एक प्रमुख इतिहासकार एन.एम. गोल्डबर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती काल में उदार और अतिवादी पक्ष के बीच अंतर किया। इस मामले में उनका कहना था कि पहले पक्ष का सामाजिक आधार कमजोर पूंजीपति वर्ग था जिसके विदेशी पूंजी से रिश्ते थे। जबकि दूसरे पक्ष के सामाजिक आधार का निर्माण निम्न बुर्जुआ वर्ग के जरिये होता था। एक दूसरे सोवियत इतिहासकार वी.आई. पावलोव ने उसी तरह से विभिन्न बुर्जुआ वर्गों के स्तरों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न चरणों के बीच सीधा रिश्ता स्थापित करने की कोशिश की। उनके मुताबिक शुरुआती चरण में औपनिवेशिक सरकार के खिलाफ बड़ा दलाल बुर्जुआ वर्ग मजबूत रुख लेने की हिम्मत नहीं कर सका जो उदार गतिविधियों में परिलक्षित होता है। बाद के चरण में औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग जिसका स्थानीय बाजारों के साथ हित जुड़ा हुआ था उसने आंदोलन को ज्यादा समर्थन देना शुरू किया। यहां तक कि ज्यादा महत्वपूर्ण मराठा निम्न बुर्जुआ वर्ग ने अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। तिलक ने एक उग्र आंदोलन के चरण का नेतृत्व किया।

फिर भी, इन सालों में भारतीय राष्ट्रवाद को समझने और उसके विश्लेषण के लिए ढेर सारे मार्क्सवादियों ने इतने बंधे-बंधाए दायरे को मानने से इनकार करना शुरू कर दिया। बिपिन चंद्र ने इस विचार की आलोचना शुरू कर दी और समय के साथ उनकी आलोचना और व्यापक होती गई। उन्होंने अपनी पहली किताब *द राइज एंड ग्रोथ ऑफ इकोनामिक नेषनलिज्म इन इंडिया* (1966) में विचार की महत्वपूर्ण भूमिका पर जोर दिया और कहा कि विचार सीधे किसी खास उत्पादन के साधनों से नहीं बनते हैं हालांकि बाद की चीजें उसे आकार जरूर देती हैं। इस तरह से विचारों को भी कुछ स्वायत्तता बदलाव के वाहन के तौर पर दिया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि यह सत्य है कि 'सामाजिक रिश्ते इंसानों के विचारों के मुकाबले स्वतंत्र रूप से वजूद में होते हैं।' लेकिन 'इंसानों की इन रिश्तों की समझ बेहद महत्वपूर्ण होती है क्योंकि वही उनकी सामाजिक और राजनीतिक कार्यवाहियों को तय करते हैं।' इससे भी आगे उनका कहना है कि बुद्धिजीवी किसी भी समाज में अपने उस वर्ग के हितों से ऊपर होते हैं जिसमें वो पैदा होते हैं। किसी खास वर्ग या समूह में पैदा होने के आधार पर बुद्धिजीवियों को परिभाषित करना 'बिल्कुल भोड़ा तकनीकी भौतिकवाद' है। यह बात इसलिए सच है क्योंकि बुद्धिजीवी लोग 'चेतना के स्तर पर विचार के जरिये न कि हितों से संचालित होते हैं।' इसलिए, भारतीय राष्ट्रवादी नेता एक बुद्धिजीवी के तौर पर उस वर्ग और समूह के हितों के ऊपर थे जिसमें वो पैदा हुए। इसका यह कत्तई मतलब नहीं है कि वे किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। लेकिन यह केवल वैचारिक स्तर पर किया जाता था निजी लाभ के लिए नहीं। जैसा कि बिपिन चंद्रा कहते हैं : 'दुनिया भर और पूरे इतिहास के सबसे अच्छे और ईमानदार बुद्धिजीवियों की तरह 19वीं सदी के भारतीय विचारक और बुद्धिजीवी भी दार्शनिक थे और किसी पार्टी या फिर वर्ग से बंधे नहीं थे। यह बात सही है कि वे वर्ग या समूह के ऊपर नहीं थे और व्यवहार में टोस वर्ग या समूहों का प्रतिनिधित्व करते थे। लेकिन जब वे वर्ग या एक समूह के हितों का प्रतिनिधित्व करते हुए परिलक्षित होते थे तो ऐसा वे विचारधारा के प्रिज्म से करते थे सीधे सदस्य के तौर पर नहीं या फिर उस वर्ग या समूह के आज्ञाकारी नौकर की तरह नहीं।'

शुरुआत के तथाकथित नरम और गरम दल दोनों तरह के राष्ट्रवादी नेताओं के आर्थिक विचारों के विश्लेषण के आधार पर बिपिन चंद्र इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कुल मिलाकर उनका आर्थिक नजरिया 'बुनियादी तौर पर पूंजीवादी था।' इससे उनका मतलब है कि 'तकरीबन आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर वो पूंजीवादी विकास को आमतौर पर और

औद्योगिक पूंजीपतियों के हितों को खासकर बढ़ावा देते थे।' इसका यह मतलब कतई नहीं था कि वे पूंजीपतियों के व्यक्तिगत हितों के लिए काम करते थे। वास्तव में, शुरुआती चरण में कांग्रेस को पूंजीपतियों का समर्थन बिल्कुल न के बराबर था। औद्योगिक पूंजीवाद के लिए राष्ट्रवादी समर्थन राष्ट्रवादियों के इस विश्वास से निकलता था कि 'आर्थिक जगत में देश में उत्पादन के लिहाज से पूंजीवादी रास्ते के साथ औद्योगिक विकास एकमात्र रास्ता है। या फिर दूसरे शब्दों में कहें तो औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का हित उस समय के मुख्य राष्ट्रीय हितों के साथ संयोग से जुड़ गया।' इस तरह से दत्त और देसाई द्वारा पेश किए गए यांत्रिक नजरिए को समाप्त करते हुए बिपिन चंद्र ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मार्क्सवादी इतिहास के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण बदलाव किए।

हालांकि, इस परिप्रेक्ष्य संबंधी बदलाव के बावजूद, बिपिन चंद्र आर.पी. दत्त द्वारा विकसित किए गए परिप्रेक्ष्य के कई बिंदुओं से सहमत दिखे। 'निरंतरता के तत्व और शुरुआती राष्ट्रवादी गतिविधि में बदलाव' विषय पर एक लेख में उनके कई ऐसे बिंदु थे जहां उनके तर्क दत्त और देसाई से मिलते थे। पहला, उनकी व्याख्या के मुताबिक, 'राष्ट्रवादी नेतृत्व द्वारा शांतिपूर्ण और अहिंसक संघर्ष' का नजरिया अपनाया जाना संपत्तिषाली वर्ग के लिए 'इस बात की बुनियादी गारंटी था कि उनके हितों को खतरे में नहीं डाला जाएगा यहां तक कि अस्थाई तौर पर भी नहीं।' अहिंसा की यह समझ बिल्कुल वही है जैसी इस मामले में दत्त और देसाई की है। दूसरा, उनका कहना है कि भारतीय जनता और राष्ट्रवादियों के बीच रिश्ते हमेशा से ही समस्याग्रस्त थे। नरम दल के नेताओं के लिए जनता की कोई भूमिका नहीं थी। यहां तक कि गरम दल के नेता भी अपने लंबे-लंबे नारों के बावजूद जनता को गोलबंद करने में नाकाम रहे। यद्यपि गांधीवादी आंदोलन के दौरान जनता राष्ट्रवादी दायरे में जरूर आई, लेकिन उसका राजनीतिकरण नहीं हुआ और देश के ज्यादातर हिस्सों में कृषि मजदूर और गरीब किसानों के निचले वर्ग की कभी भी राजनीतिक गोलबंदी नहीं की गई। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार 1947 तक बहुत ज्यादा मजबूत नहीं था। यहां तक कि जब उनकी गोलबंदी की गई तब भी आम जनता निर्णय लेने की प्रक्रिया से बाहर रही और नेताओं तथा उसके बीच की खाई कभी भी नहीं भरी जा सकी। उनके मुताबिक, 'जनता के राजनीतिक गतिविधियों पर ऊपर से कड़ा नियंत्रण रहता था। जनता कभी भी एक स्वतंत्र राजनीतिक ताकत नहीं बन सकी। यहां तक कि निर्णय प्रक्रिया में उनकी भागीदारी का सवाल कभी उठा ही नहीं।' तीसरा, राष्ट्रवादी नेता आंदोलन के सभी चरणों में इस बात पर जोर देते रहे कि राष्ट्रीय आजादी हासिल करने की प्रक्रिया विकासवादी होगी न कि क्रांतिकारी। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए बुनियादी रणनीति दबाव-समझौता-दबाव होगी। इस रणनीति में औपनिवेशिक शासकों पर आंदोलनों, राजनीतिक काम और लोगों की गोलबंदी के जरिये दबाव डाला जाएगा। जब अधिकारी कुछ छूट देने की इच्छा जाहिर करेंगे तब दबाव को खींच लिया जाएगा और फिर समझौते पर पहुंचेंगे। औपनिवेशिक शासकों द्वारा दी गई राजनीतिक छूट को स्वीकार कर उस पर काम करना होगा। उसके बाद कांग्रेस को नयी छूट हासिल करने के लिए एक और आंदोलन की तैयारी करनी होगी। इसी तरह से चरणबद्ध, अहिंसक तरीके से अंग्रेजों से ढेर सारी छूटें हासिल की जाएंगी और फिर यही प्रक्रिया आखिर में देश को स्वतंत्रता की तरफ ले जाएगी।

सामाजिक आधार, विचारधारा और राजनीतिक संघर्ष की रणनीति के अपने विश्लेषण के आधार पर बिपिन चंद्र इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कांग्रेस के नेतृत्व में चला राष्ट्रवादी आंदोलन 'एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक आंदोलन था जिसने साम्राज्यवाद के मुकाबले सभी वर्गों, समाज के सभी हिस्सों, के हितों का प्रतिनिधित्व किया लेकिन ये सब कुछ औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के तहत हुआ।' यही चरित्र शुरु से लेकर 1947 तक निरंतर बना रहा। यहां तक कि गांधीवादी आंदोलन के चरण में भी इसमें कोई बदलाव नहीं आया। वास्तव में बिपिन

चंद्र के मुताबिक 'राष्ट्रीय आंदोलन पर बुर्जुआ वर्ग का वर्चस्व गांधीवादी युग में दूसरे किसी समय के मुकाबले ज्यादा था।'

हालांकि, बाद की अपनी एक किताब *इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडेपेंडेंस 1857-1947* (1988) में बिपिन चंद्र निर्णायक तौर पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर दत्त और देसाई के विचारों से अलग हो गए। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को लेकर विकसित ज्यादातर पहले की मान्यताओं को छोड़ दिया। कांग्रेस की रणनीति अब दबाव-समझौता-दबाव के तौर पर नहीं दिखी। इसे अब ग्राम्भी के शब्द 'युद्ध की स्थिति' से जोड़ा गया जहां लक्ष्य को हासिल करने के लिए एक लंबे संघर्ष की जरूरत होती है। जैसा कि बिपिन चंद्र इसको इस तरीके से रखते हैं:

'भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन... अकेला आंदोलन है जहां एक हद तक युद्ध की स्थिति के ग्राम्भी के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया; जहां राज्य की शक्ति पर क्रांति के इतिहास के किसी भी एक पल में काबिज नहीं हुआ गया, बल्कि नैतिक, राजनीतिक और वैचारिक स्तर पर लंबा लोकप्रिय संघर्ष चला, जहां समय के आगे बढ़ने के साथ ही सालों में प्रति-वर्चस्व की ताकत का निर्माण हुआ, जहां संघर्ष के चरण और विश्राम के चरण अदल-बदल के आते रहे।'३

यह संघर्ष हिंसक नहीं था क्योंकि राष्ट्रवादी नेता केवल साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई और देश को एक राष्ट्र के तौर पर विकसित करने के प्रति चिंतित थे। बौद्धिक और राजनीतिक दोनों स्तरों पर एक लम्बी लड़ाई लड़ने की प्रक्रिया में राष्ट्रवादी नेता इस बात को दिखाना चाह रहे थे कि औपनिवेशिक शासन भारत के लोगों के लिए लाभदायक नहीं है और न ही यह अजेय है। गांधीवादी अहिंसा की भी अब पुनर्व्याख्या होने लगी। इस तरह से इसे अब 'गांधी जी का कठमुल्लापन और न ही संपत्तिषाली वर्ग के हितों से निर्देषित माना गया। यह आंदोलन का अभिन्न हिस्सा बन गया जिसकी रणनीति में जन आंदोलन पर आधारित एक वर्चस्वशाली संघर्ष छेड़ना शामिल था जो हर संभव स्तर पर लोगों की गोलबंदी कर सके।' राष्ट्रीय आंदोलन को अब सभी वर्गों का आंदोलन माना जाने लगा, जिसने किसी भी वर्ग के लिए अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए जगह और अवसर प्रदान किया। इससे भी आगे मुख्य पार्टी कांग्रेस अब एक पार्टी के तौर पर नहीं बल्कि आंदोलन के तौर पर देखी जाने लगी। इस तरह से बिपिन चंद्र ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की परंपरागत मार्क्सवादी व्याख्या से अब बिल्कुल साफ अलगाव बना लिया।

सुमित सरकार राष्ट्रीय आंदोलन की एक दूसरी प्रसिद्ध मार्क्सवादी व्याख्या पेश करते हैं, जो दत्त-देसाई के मत का समर्थन करने के साथ ही उसकी आलोचक भी है। अपनी पहली पुस्तक *द स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल, 1903-1908* (1973) में वह इसे 'मार्क्सवादी वर्ग नजरिये की सरल किस्म' करार देते हैं। वह इसके इस विरोधाभास की आलोचना करते हैं जिसमें कहा जाता है कि उदार चरण पर 'बड़े बुर्जुआ' का प्रभुत्व था जबकि अतिवादी पर 'षहरी निम्न बुर्जुआ' का। इसकी बजाय उनका कहना था कि 'उदार पंथियों और गरमपंथियों के बीच बिल्कुल साफ-साफ वर्गीय विभेद कर पाना आज भी संभव नहीं है, और निश्चित तौर पर नेताओं के स्तर पर उस समय भी यह मौजूद नहीं था।' उनका मानना है कि मार्क्सवादी व्याख्या का यह रूप गलत ढंग से यह सोचता है कि 'राजनीतिक कार्रवाइयों या फिर आदर्शों के पीछे सिर्फ आर्थिक प्रेरणा होती है।' यह वर्गीय व्याख्या का एक भोंडा प्रदर्शन है। उनके मुताबिक, राष्ट्रवादी नेताओं की कार्रवाइयों को ट्राट्स्की के 'विकल्पवाद' की अवधारणा का इस्तेमाल कर बेहतर तरीके से समझा जा सकता है जहां बुद्धिजीवी 'बार-बार निष्क्रिय सामाजिक ताकतों की जगह ले लेते हैं जिनसे उनका बहुत कम जैविक रिश्ता होता है।' उन्होंने ग्राम्भी के 'परंपरागत' और 'जैविक' बुद्धिजीवी के श्रेणी का भी

इस्तेमाल किया। मषहूर इतालवी मार्क्सवादी कार्यकर्ता और विचारक एंटोनियो ग्राम्शी के मुताबिक जैविक बुद्धिजीवी सीधे उत्पादन की प्रक्रिया में हिस्सा लेते हैं और उन लोगों से सीधा जुड़े हुए होते हैं जिनको वो नेतृत्व देते हैं। जबकि दूसरी तरफ 'परंपरागत' बुद्धिजीवी उत्पादन प्रक्रिया या फिर लोगों से सीधे नहीं जुड़े होते हैं। फिर भी, वो खास वर्गों की वैचारिक जिम्मेदारी लेकर उनके नेता बन जाते हैं। सरकार का मानना है कि बंगाल में स्वदेशी आंदोलन के नेता जो ज्यादातर 'परंपरागत शिक्षित जातियों' से आते थे और 1850 के बाद वाणिज्य या फिर उद्योग से जुड़े नहीं थे, उन्हें ग्राम्शी की परिभाषा के हिसाब से 'परंपरागत' बुद्धिजीवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। वे ग्राम्शी के जैविक बुद्धिजीवी नहीं थे जो प्रायः उन्हीं वर्गों से पैदा होते हैं जिनका वे नेतृत्व करते हैं। यह विचार बिपिन चंद्र के विचार के काफी करीब है। इसके साथ ही शुरुआती राष्ट्रवादी नेताओं के निर्माण में सरकार विचारधारा की भूमिका पर जोर देते हैं। सुमित सरकार इस बात को मानते हैं कि हालांकि शुरुआती राष्ट्रवादी नेता बुर्जुआ वर्ग से सीधे नहीं जुड़े थे, लेकिन उन्होंने वस्तुगत तौर पर 'देश के स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के रास्ते को साफ करने में अहम भूमिका निभाई।' एक दूसरे लेख 'द लॉजिक ऑफ गांधियन नेषनलिज्म' (1985) में उन्होंने उससे आगे बढ़कर कहा कि बुर्जुआ वर्ग के पक्ष में स्वदेशी आंदोलन का आग्रह बाद में बुर्जुआ वर्ग की सीधी भागीदारी और सविनय अवज्ञा आंदोलन के नेताओं द्वारा पूंजीपतियों के हित में लिए गए आत्मगत स्थिति के रूप में बदल गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन में शामिल सामाजिक शक्तियों के अध्ययन और गांधी-इरविन समझौते के बाद के विकास के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को शुरू करने की शक्ति और आखिर में उसे समाप्त करने दोनों में बुर्जुआ समूहों की व्यापक और बेहद बड़ी हुई भूमिका थी। उन्होंने अपने बयान की सफाई देते हुए कहा कि 'गांधी किसी सरल या फिर तकनीकी तौर पर बुर्जुआ वर्ग के हथियार नहीं थे और उन्हें पूंजीपतियों के हाथ की 'कठपुतली' मानना कत्तई उचित नहीं होगा। हालांकि, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि 'गांधीवादी नेतृत्व की भारतीय व्यवसायिक हितों के साथ विशिष्ट बिंदुओं पर अपने लक्ष्यों को लेकर समानता थी।' इसके साथ ही 'बुर्जुआ वर्ग के हितों के साथ गांधीवादी नेतृत्व आत्मगत व्यवहार के अनियत महत्वपूर्ण संयोगों से जुड़ा हुआ था।'

भारतीय राष्ट्रवाद पर मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य राजनीति और विचारधारा से जुड़े वर्गीय नजरिये से संबंधित है। इसकी बुनियादी बात यह है कि राष्ट्रवादी नेतृत्व और विचार वस्तुगत या आत्मगत तौर पर भारतीय बुर्जुआ का प्रतिनिधित्व करते थे और इस बात को चाहते थे कि भारत एक स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के रास्ते पर विकसित हो सके।

### 3.5 सारांश

भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद पर औपनिवेशिक विचार भारत के कभी एक राष्ट्र के तौर पर आने की संभावना को खारिज करता था। इससे भी आगे यह राष्ट्रीय आंदोलन को संकुचित अंग्रेजी-शिक्षित अल्पसंख्यकों के नेतृत्व में अपने तुच्छ निजी स्वार्थों के लिए चलाया जाना वाला आंदोलन मानता था। इस विचार के मुताबिक आबादी का यह छोटा मध्यवर्गीय हिस्सा अनगिनत जातियों, भाषाओं और क्षेत्रीय समूहों को हताशा में इकट्ठा कर एक राष्ट्र का निर्माण कभी नहीं कर सकता।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारतीय जनता के नकारात्मक चरित्र चित्रण का पूरी मजबूती के साथ विरोध किया। उन्होंने इस औपनिवेशिक विचार को पूरी तरह से खारिज कर दिया कि भारत कभी भी एक राष्ट्र नहीं बन सकता है। वास्तव में उनमें से ज्यादातर का कहना था कि भारत के पास हमेशा एक राष्ट्र बनने की क्षमता थी और इतिहास में ऐसा कई बार हो



चुका है। हालांकि वे आधुनिक पश्चिमी विचारों की भूमिका से इनकार नहीं करते थे, इनमें से ढेर सारे इतिहासकार इस बात को कहते थे कि प्राचीन काल से ही भारत के भीतर एक सांस्कृतिक एकता रही है। राष्ट्रवादी इतिहासकार राष्ट्रवादी आंदोलन को एक अखिल भारतीय आंदोलन के तौर पर देखते थे जिसका सभी वर्गों और समूहों को मिलाकर आदर्शवादी और निःस्वार्थी नेता नेतृत्व कर रहे थे।

मार्क्सवादी इतिहासकार इन दोनों के खिलाफ थे। राष्ट्रवादी आंदोलन का उनका विश्लेषण आर्थिक कारकों और राष्ट्र निर्माण और आंदोलन में वर्गों की भूमिका की समझ पर आधारित था। उनके मुताबिक राष्ट्रीय आंदोलन भारतीय जनता और साम्राज्यवादी सरकार के बीच बुनियादी विरोध की अभिव्यक्ति था। यह ऐसा आंदोलन था जो या तो सीधे बुर्जुआ वर्ग से प्रभावित था या फिर पूंजीवादी विकास की दिशा में परोक्ष तौर पर काम कर रहा था। मार्क्सवादियों की समझ में, इस तरह से विभिन्न तरह के वर्ग और समूह आंदोलन में शामिल थे, लेकिन इसने आखिरी तौर पर भारतीय बुर्जुआ वर्गों के हितों की सेवा की।

---

### 3.6 अभ्यास

---

- 1) भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रीय आंदोलन पर उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी विचारों के बीच मुख्य अंतरों पर चर्चा करें।
- 2) भारतीय राष्ट्रवाद पर मार्क्सवादी इतिहास लेखन के बुनियादी बिंदु क्या हैं?
- 3) किस तरह से बिपिन चंद्रा और सुमित सरकार के विचार आर.पी. दत्त और ए.आर. देसाई से अलग हैं?

---

## इकाई 4 भारतीय राष्ट्रवाद पर परिप्रेक्ष्य-2\*

---

### संरचना

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में कैम्ब्रिज स्कूल
- 4.3 सबाल्टर्न अध्ययन
- 4.4 कुछ अन्य दृष्टिकोण
- 4.5 सारांश
- 4.6 अभ्यास

---

### 4.1 प्रस्तावना

---

पिछली इकाई में हमने भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में कुछ प्रमुख दृष्टिकोणों – औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी, और मार्क्सवादी – पर विचार किया था। इस इकाई में हम कुछ अन्य दृष्टिकोणों पर विचार करेंगे जो राष्ट्रवादी आंदोलन की व्याख्या के लिहाज से महत्वपूर्ण हैं। इन सभी परिप्रेक्ष्यों के बारे में बताने का लक्ष्य यह बात प्रदर्शित करना है कि न केवल राष्ट्रवाद एक जटिल परिघटना थी बल्कि इसका इतिहास लेखन भी उलझा हुआ काम है जिसमें तरह तरह के वैचारिक और राजनीतिक आचरण से मदद मिलती है।

---

### 4.2 भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में कैम्ब्रिज स्कूल

---

नाम से ही स्पष्ट है कि 'कैम्ब्रिज स्कूल' ऐसे इतिहासकारों के समूह को दिया गया नाम है जो ज्यादातर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में काम कर रहे थे। 1960 और 1970 के दशक में प्रकाशित उनकी रचनाओं में खास तरह का दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है जो उपनिवेशवादी इतिहास लेखन के कुछ विचारों से कई तरह से मिलता जुलता है और जो राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के विपरीत है। भारतीय राष्ट्रवाद की वैकल्पिक व्याख्या के रूप में 'कैम्ब्रिज नजरिए' को प्रस्तुत किया गया। इसने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध राष्ट्रवादी विचारधारा में विश्वास करने वाले नेताओं के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की धारणा को पूरी तरह से खत्म कर देना चाहा। जहां राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकार कहते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद का विकास भारतीय जनता और साम्राज्यवाद के बीच अंतर्विरोध के कारण हुआ वहीं कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकार मानते हैं कि साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के बीच कोई वास्तविक अंतर्विरोध नहीं था बल्कि केंद्रीय अंतर्विरोध भारतीयों के बीच ही था।

कैम्ब्रिज स्कूल का पूर्ववर्ती जान गलागर और रोनाल्ड राबिंसन का लेखन है जिन्होंने 'इंपीरियलिज्म आफ फ्री ट्रेड' (1953), 'अफ्रीका एंड द विक्टोरियंस' (1961), तथा 'नान-यूरोपियन फाउंडेशंस आफ यूरोपियन इंपीरियलिज्म' (1972) जैसी अपनी विभिन्न किताबों में कहा कि उपनिवेशवाद एषियाई और अफ्रीकी सत्ता तंत्र की आंतरिक राजनीतिक कमजोरी का परिणाम था जिन्होंने औपनिवेशिक शासन की स्थापना के लिए यूरोपीय लोगों के साथ सहयोग किया। इस तरह उन्होंने प्राक-औपनिवेशिक समय से औपनिवेशिक दौर की निरंतरता पर जोर दिया और स्थानीय लोगों की संश्रयकारी भूमिका को उभारा। गलागर के

विद्यार्थी अनिल शील ने 'द इमर्जेंस आफ इंडियन नेशनलिज्म' (1972) शीर्षक की भारत पर अपनी शुरुआती किताब में तर्क दिया कि अंग्रेजी शिक्षा के चलते एक नया मध्य वर्ग पैदा हुआ जिसने राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए फरियाद की। अंग्रेजों ने उन्हें विश्वविद्यालय जैसी विभिन्न संस्थाओं में पद देकर, नगरपालिका परिषदों में और बाद में प्रांतीय विधायी सभाओं में कुछ सीटें देकर उपकृत किया। बहरहाल दावेदार बहुत थे जबकि पद कम थे। इसके चलते कुलीनों में तीखी होड़ हुई। ऐसा खासकर क्षेत्रीय स्तरों पर हुआ क्योंकि नए अवसर उसी स्तर पर खुल रहे थे। शील ने जोर देकर कहा कि अंग्रेजों और भारतीयों के बीच अथवा साम्राज्यवादी शासन और भारतीय जनता के बीच कोई टकराव नहीं था। इसकी जगह मुख्य अंतर्विरोध भारतीयों के बीच, खासकर शिक्षित कुलीनों के बीच जाति, समुदाय और धर्म के आधार पर था। उन्होंने कहा कि :

'साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच ऊपरी टकरावों पर कुछ ज्यादा ही ध्यान दिया गया है; उनकी वास्तविक सहभागिता का अध्ययन कम से कम उतना ही लाभदायक होगा। इन (राष्ट्रवादी) गोलबंदियों के घटित होने में अंग्रेजी राज और भारतीय उद्यम दोनों ही सहभागी हैं' (शील 1968: 342)।

मार्क्सवादी इतिहासकारों के विपरीत शील ने कहा कि भारतीय राष्ट्रवाद 'किसी वर्गीय मांग का उत्पाद या अर्थतंत्र की संरचना में किसी तीखे बदलाव का परिणाम' नहीं था। उन्होंने जोर देकर कहा कि भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और विकास को 'वर्गों पर आधारित धारणा की जगह कुलीनों पर आधारित धारणात्मक व्यवस्था' से समझा जा सकता है। औपनिवेशिक दौर में औपनिवेशिक सत्ता द्वारा प्रदत्त पदों और अधिकारों को लेकर कुलीनों में बेहद तीखी होड़ थी। लेकिन ये टकराव 'जाति और जाति के बीच, समुदाय और समुदाय के बीच हुए, न कि वर्ग और वर्ग के बीच'। इन गोलबंदियों में से ज्यादातर क्षैतिज थीं और जाति तथा धर्म जैसी पुरानी अस्मिताओं पर आधारित थीं। इस मामले में भारतीय राष्ट्रवाद 'उन्नीसवीं सदी के यूरोप के वास्तविक राष्ट्रवादों... के साथ मेल में नहीं दिखाई पड़ता' (शील 1968: 341)। इसके अलावे औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संचालित तथाकथित संघर्ष झूठे थे:

'अंग्रेजी राज और कांग्रेस ने जो लड़ाइयां लड़ीं उनमें से कई दो ऐसे पक्षों के बीच महज छद्म संघर्ष थे जिनमें से प्रत्येक अपने मोर्चे पर तैनात अविष्वसनीय फौजों का मारा हुआ था। असहयोग, सविनय अवज्ञा, नया संविधान, 1942 की झड़पें— ये सभी नपुंसक प्रतिद्वंद्वियों के बीच इस विचित्र संघर्ष का हिस्सा थे। यह दषहरा के दो खोखले पुतलों के बीच गतिहीन और नकली लड़ाई जैसा था। अंत में जब वे अपने सहयोगियों पर काबू पा सके तो मुस्लिम लीग ने मुखौटों की इस लड़ाई को छिन्न भिन्न कर दिया और तत्काल वास्तविक शत्रुता खुलकर सामने आ गई— जो भारतीयों और भारतीयों के बीच थी' (शील 1968: 351)।

जिन नेताओं ने राष्ट्रवादी आंदोलन का नेतृत्व किया वे सभी ऐसे असंतुष्ट लोग थे जिनके निजी स्वार्थ पूरे नहीं हो सके थे। इस तरह शील के मुताबिक दादा भाई नौरोजी ने संपदा की निकासी (ड्रेन आफ वेल्थ) और भारत की दरिद्रता का मुद्दा केवल इस मकसद से उठाया ताकि वे लंदन में आराम से रह सकें।

बाद में इस प्रवृत्ति के इतिहासकारों ने जाति और समुदाय के इर्द गिर्द क्षैतिज गोलबंदी के विचार की जगह गुटों के इर्द गिर्द ऊर्ध्वाधर गोलबंदी का विचार अपना लिया। ये गुट विभिन्न स्थानों में कार्यरत संरक्षक-संरक्षित संबंध की ऊर्ध्वाधर संगठित संरचनाएं थे जिनका नियंत्रण स्थानीय गुटबाजों के हाथों में था। स्थानीय संघर्षों 'की विशेषता शायद ही कभी जमींदारों का जमींदारों के साथ, किसानों का किसानों के साथ, शिक्षितों का शिक्षितों

के साथ, मुस्लिमों का मुस्लिमों के साथ और ब्राह्मणों का ब्राह्मणों के साथ सहयोग था। इससे अधिक होता यह था कि हिंदू मुसलमानों के साथ काम करते थे, ब्राह्मण गैर-ब्राह्मणों से मिले रहते थे; और उल्लेखनीय लोग अपने ऊपर निर्भर लोगों को समर्थक के रूप में संगठित कर लेते थे, पेशेवर लोगों को प्रवक्ता के बतौर नियुक्त कर लेते थे और सरकारी सेवकों को अपना सहायक बना लेते थे' (शील 1973: 323)।

इन गुटों की पहुंच अपने मकसद की सेवा के लिए वकीलों और राजनेताओं की नियुक्ति के साथ कस्बों और शहरों तक हो गई। देश और उसके क्षेत्रों की जगह सत्ता के मुख्य केंद्र के रूप में स्थानों पर जोर दिया गया। ऊर्ध्ववाधर रूप से संगठित ये गुट जाति, वर्ग, धर्म और क्षेत्र की सीमाओं के आर पार होते थे और राष्ट्रवादी राजनीति समेत भारतीय राजनीति के सबसे महत्वपूर्ण कारक थे। हालांकि कैम्ब्रिज स्कूल की मान्यता अब भी यही थी कि भारतीयों में राजनीति की प्रमुख प्रेरणा औपनिवेशिक शासन के साथ सहयोग की इच्छा थी लेकिन अब वह शिक्षा अथवा कुलीनों में टकराव की वजह नहीं रही। अब उसका रूप नगरपालिकाओं और प्रांतीय विधायी सभाओं जैसी विभिन्न प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं में सीटें हासिल करने की होड़ हो गया क्योंकि अंग्रेजों ने भारतीयों के लिए इन संस्थाओं के दरवाजे खोल दिए थे। और यह लड़ाई अब स्थानीय स्तर पर लड़ी जा रही थी। इस प्रकार भारतीय राजनीति को स्थानीयताएं नियंत्रित कर रही थीं तथा क्षेत्र (प्रांत) और देश दोगले दर्जे की चीजें हो गए। अंग्रेजों को 'भूमिगत कानून का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा जहां गुटों का निजी न्याय टकरावों को लाठी की मार से सुलझा लिया करता था या जहां अदालत में भी ताकतवर ही अपने मुताबिक फैसला करवा लेता था। अंग्रेजी राज के मिथकों की दुनिया में एलफिंस्टन, मुनरो और थामसन का समय बहादुराना सामाजिक इंजीनियरिंग का युग प्रतीत होता है लेकिन उनके राज के षिखर के नीचे जमीनी हकीकत यह थी कि भारतीय लोग भारतीयों से ही लड़ते रहते थे, कभी कभी वे ऐसा जिले के मजिस्ट्रेट की कृपा पाने के लिए करते थे और कभी कभी उसका या उसके नियमों का ध्यान दिए बिना एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए करते थे। इस स्तर पर शायद ही अंग्रेजों का शासन चलता था, असल में तो भारतीय ही राज करते थे' (शील 1973: 328-29)।

कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के मुताबिक भारतीय उप महाद्वीप में बदलाव का पहला और सबसे महत्वपूर्ण चालक ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार थी। इसके द्वारा सृजित संवैधानिक, प्रशासनिक और राजनीतिक जाल के भीतर ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का उदय और विकास हुआ। शुरु से ही प्रशासन के निचले स्तर पर भारतीयों की जरूरत पड़ती थी, लेकिन निर्णय की प्रक्रिया में बहुत कम भारतीय होते थे। बहरहाल उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से स्थानीय, क्षेत्रीय और प्रांतीय स्तरों पर कुछ संवैधानिक उपायों के चलते नीति-निर्माण में भारतीयों को भागीदारी का अवसर मिलने लगा। दोनों विषय युद्धों और महामंदी ने सरकार को प्रशासनिक और न्यायिक स्तरों पर खर्च में कमी करने के लिए मजबूर कर दिया जिसके चलते शक्तियों का हस्तांतरण हुआ। 1919 और 1935 के संवैधानिक और राजनीतिक सुधारों ने भारतीयों को थोड़ा विस्तारित निर्वाचक मंडल के आधार पर प्रांतीय स्तर पर कुछ हद तक वास्तविक सत्ता का स्वाद चखने का मौका दिया। प्रशासनिक और विधायी पदों से अंग्रेजों के पीछे हटने से पैदा हुए अवसरों का पूरा फायदा उठाने के लिए आपस में होड़ करते हुए भारतीयों ने अब तक जितना व्यापक संपर्क सूत्र निर्मित किए थे उससे भी व्यापक जाल बनाए। राष्ट्रवादी और साम्राज्यवाद-विरोधी शब्दावली जिन मुद्दों के लिए अपनाई गई वे मूल तौर पर स्थानीय मसले थे। स्थानीय और प्रांतीय सीमाओं के आर पार व्यापक संपर्कों को समझने के लिए स्थानीय मुद्दे और गुट महत्वपूर्ण हैं। क्षेत्रीय और राष्ट्रीय नेता स्थानीय नेताओं के हित में काम करते थे। यहां तक कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग जैसे राष्ट्रीय संगठनों में भी ऐसे गुट थे जिनकी चाभी स्थानीय

नेताओं के हाथों में होती थी। राजनीति की इस दुनिया में नेताओं को चलाने वाली चीज विचारधारा नहीं बल्कि सत्ता की चाह थी। सभी स्थानों पर सभी व्यक्ति, सभी नेता और उनके अनुयायी सत्ता और संसाधनों की चाहत में लगे हुए निजी स्वार्थ से संचालित हो रहे थे। विचारधारा और समाज को बदलने की सभी बातें बस मुखौटा थीं जिनके पीछे ताकत का नंगा खेल खेला जा रहा था। (देखें, शशिभूषण उपाध्याय, 2016)।

कैम्ब्रिज स्कूल की बुनियादी थीसिस *माडर्न एशियन स्टडीज* नामक पत्रिका में प्रकाशित लेखों की शृंखला में व्यक्त हुई जिनका संकलन *लोकैलिटी, प्राविन्स एंड नेशन (1973)* नामक पुस्तक में हुआ। इसके अलावा इन लेखकों द्वारा प्रकाशित कई किताबों में इस स्कूल के बुनियादी तर्कों को पेश किया गया है: गार्डन जानसन की *प्राविषियल पालिटिक्स एंड इंडियन नेशनलिज्म: बांबे एंड द इंडियन नेशनल कांग्रेस 1890 टु 1905 (1973)*; सी ए बेली की *द लोकल रूट्स आफ इंडियन पालिटिक्स: इलाहाबाद 1880-1920 (1975)*; डी ए वाषब्रुक की *द इमर्जेन्स आफ प्राविषियल पालिटिक्स: मद्रास प्रेसिडेन्सी 1870-1920 (1976)*; सी जे बेकर की *द पालिटिक्स आफ साउथ इंडिया 1920-1937 (1976)*; बी आर टामलिंगन की *द इंडियन नेशनल कांग्रेस एंड द राज 1929-1942 (1976)*; और सी जे बेकर, गार्डन जानसन और अनिल सील (संपादक), *पावर, प्राफिट एंड पालिटिक्स (1981)*

### 4.3 सबाल्टर्न अध्ययन

पिछली सदी के आखिरी दशकों में *सबाल्टर्न स्टडीज* नामक पत्रिका के साथ जुड़े विद्वानों को ख्याति प्राप्त हुई क्योंकि वे भारतीय इतिहास लेखन के सभी अन्य रूपों की तीखी आलोचना कर रहे थे। उन्होंने समूचे आधुनिक भारतीय इतिहास खासकर भारतीय राष्ट्रवाद की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। 1980 दशक के पूर्वार्ध में *सबाल्टर्न स्टडीज* के पहले ग्रंथ (1982 में) के प्रकाशन के बाद से भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या की यह प्रवृत्ति भारतीय इतिहासकारों के कुछ हिस्सों में काफी प्रभावी रही है। इसे आधुनिक इतिहास लेखन में ऐसी क्रांतिकारी शुरुआत घोषित किया गया जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में सभी पूर्ववर्ती दृष्टिकोणों से अलग होने का दावा करता है। इस परियोजना का जिसे घोषणापत्र कहा जा सकता है, *सबाल्टर्न स्टडीज* के पहले ही ग्रंथ में रणजीत गुहा ने घोषित किया कि 'भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास लेखन लंबे समय से कुलीनता के दबदबे में रहा है— औपनिवेशिक कुलीनता और बुरुजुआ-राष्ट्रवादी कुलीनता।' गुहा के मुताबिक सभी किस्म के कुलीन इतिहासों में एक चीज साझा होती है और वह है उनके विवरण में राजनीति से जनता की अनुपस्थिति। भारतीय इतिहास लेखन की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों की उन्होंने आलोचना की— औपनिवेशिक प्रवृत्ति जो औपनिवेशिक शासन को अज्ञानी जनता को ज्ञानदान के मिशन की सफलता के रूप में देखती थी; राष्ट्रवादी प्रवृत्ति जो प्रतिरोध की सभी कार्यवाहियों को राष्ट्र-राज्य के निर्माण के अंग के बतौर समझती थी; और मार्क्सवादी प्रवृत्ति जो जनता के संघर्षों को क्रांति और समाजवादी राज्य की ओर प्रगति के रूप में पेश करती थी। उनके अनुसार इनकी किताबों में निम्नवर्गीय समूह जिस तरह दुनिया को देखते थे और राजनीतिक आचरण करते थे उसे समझने और उसे दर्ज करने की कोई कोषिष नहीं दिखाई पड़ती। पहले के इतिहासकारों की आलोचना इसलिए की गई क्योंकि वे लोकप्रिय पहलकदमी की अनदेखी करते थे और विद्रोह तथा विद्रोहियों के बारे में सरकारी नकारात्मक सोच को स्वीकार कर लेते थे। 'द प्रोजेक्ट आफ काउंटर-इनसर्जेसी' नामक अपने लेख में रणजीत गुहा ने भारत के मौजूदा किसान और आदिवासी वर्गों पर लिखे गए इतिहासों पर कठोर आक्रमण किया क्योंकि वे किसान विद्रोहों को 'षुद्ध रूप से स्वतःस्फूर्त और अविचारित मामला' समझते हैं और विद्रोहियों की खुद की चेतना की अनदेखी करते हैं। तात्कालिक सरकारी रिपोर्टों से लेकर वाम क्रांतिकारियों द्वारा लिखे इतिहासों तक विद्रोहों के सभी

विवरणों पर उन्होंने आरोप लगाया कि वे प्रति-विद्रोहिता का पाठ लिखते हैं जो जनता के कर्तापन को मान्यता देने से तथा 'विद्रोही को अपने खुद के इतिहास का निर्माता मानने से' इनकार करते हैं। गुहा के अनुसार वे सभी इस बात को समझने में नाकामयाब रहे कि राजनीति का एक समानांतर निम्न वर्गीय परिक्षेत्र होता है जो कुलीन राजनीति से प्रभावित नहीं होता और जिसमें स्वतंत्र आत्म-सर्जक गति होती है। इसकी जड़ें उपनिवेश-पूर्व लोकप्रिय सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं में थीं। बहरहाल यह परिक्षेत्र आदिम नहीं था बल्कि 'उतना ही आधुनिक था जितना देशी कुलीन राजनीति; इसकी विशेषता थी समय और संरचना में अपेक्षाकृत अधिक गहरे धंसा होना'। उनकी निगाह में इस बात की तत्काल जरूरत थी कि निम्न वर्गीय दृष्टिकोण से इतिहास को देखकर गलती को दुरुस्त कर लिया जाए। जनता की राजनीति महत्वपूर्ण थी क्योंकि इससे ऐसे स्वायत्त परिक्षेत्र का निर्माण होता था जो 'न तो कुलीन राजनीति से पैदा होता था और न ही अपने अस्तित्व के लिए उस पर निर्भर था'। जनता की राजनीति कई निर्णायक पहलुओं से कुलीन राजनीति से अलग थी। एक तो कि इसकी जड़ें जाति और नातेदारी के संपर्कों, आदिवासी एकजुटता, स्थानबद्धता जैसे जनता के पारंपरिक संगठनों में थीं। दूसरे कि जहां कुलीन गोलबंदियां स्वभावतः ऊर्ध्ववाधर होती थीं, वहीं जनता की गोलबंदियां क्षैतिज होती थीं। तीसरे कि जहां कुलीन गोलबंदी कानूनी और शांतिपूर्ण होती थी वहीं निम्नवर्गीय गोलबंदी अपेक्षाकृत हिंसक होती थी। चौथे कि कुलीन गोलबंदी अधिक सावधान और नियंत्रित होती थी जबकि निम्नवर्गीय गोलबंदी अधिक स्वतःस्फूर्त होती थी।

सबाल्टर्न इतिहासकारों का कांग्रेसी राष्ट्रवाद और उसके साकार रूप भारतीय राज्य से मोहभंग हो चुका था इसलिए उन्होंने इस थीसिस को खारिज कर दिया कि लोकप्रिय गोलबंदी जनता के आर्थिक हालात या ऊपर की पहल का परिणाम थी। उन्होंने ऐसे लोकप्रिय स्वायत्त परिक्षेत्र को खोज लेने का दावा किया जो राजनीति के कुलीन परिक्षेत्र का विरोधी था। निम्नवर्गीय का यह परिक्षेत्र कुलीनों के विरुद्ध निरंतर प्रतिरोध और विद्रोह से परिभाषित होता था। निम्नवर्गीय इतिहासकारों ने इस परिक्षेत्र को एक आम एकता प्रदान कर दी और इसके लिए आदिवासी, किसान, सर्वहारा और, कभी कभी मध्य वर्ग जैसे विविध समूहों तक को भी एक साथ रख दिया। इससे भी आगे कहा गया कि यह परिक्षेत्र कुलीन राजनीति से लगभग पूरी तरह अप्रभावित रहा और इसमें स्वतंत्र तथा आत्म-सर्जक गति थी। किसी आंदोलन के पीछे की मुख्य ताकत कोई करिष्माई नेतृत्व नहीं माना जाता। इसकी जगह ऐसे करिष्मा की जनता की व्याख्या किसी आंदोलन या विद्रोह के विश्लेषण में प्रमुख बात मानी जाने लगी।

यह विचार सबाल्टर्न स्टडीज नामक ग्रंथ श्रृंखला के एकदम शुरुआती लेखों में भी मौजूद है। ज्ञानेंद्र पांडे ने 'पीजेंट रिवोल्ट ऐंड इंडियन नेशनलिज्म' (एस एस 1) में कहा कि अवध में किसान आंदोलन असहयोग आंदोलन से पहले और उससे पूरी तरह स्वतंत्र होकर जन्मा। उनके मुताबिक स्थानीय शक्ति संरचना तथा औपनिवेशिक सत्ता के साथ उसके गठजोड़ के बारे में किसानों की समझदारी कांग्रेसी नेताओं से अधिक उन्नत थी। असल में तो जहां कहीं कांग्रेस मजबूत थी वहां किसानों का लड़ाकूपन कम था। स्टीफेन हेनिंगम के 'क्विट इंडिया इन बिहार ऐंड द ईस्टर्न यूनाइटेड प्रोविन्सेज' (एस एस 2) में कुलीन और निम्नवर्गीय परिक्षेत्र एक दूसरे से साफ साफ अलग हैं। वे दो आंदोलनों की बात करते हैं जो एक साथ मौजूद थे लेकिन एक दूसरे के समानांतर चल रहे थे— 'एक कुलीन उभार' जिसकी शुरुआत 'कांग्रेस के भीतर दबदबे वाले ऊंची जाति के धनी किसानों और छोटे जमींदारों' ने की और एक 'निम्नवर्गीय विद्रोह' जिसकी ताकत 'इलाके के छोटी जाति के गरीब लोग' थे।

शाहिद अमीन ने अपने लेख 'गांधी ऐज महात्मा' (एस एस 3) में गांधी के बारे में लोकप्रिय धारणा का अध्ययन किया। उन्होंने दिखाया कि लोकप्रिय धारणा और गतिविधियां महात्मा के बारे में कांग्रेसी नेताओं की धारणा से पूरी तरह अलग थीं। हालांकि महात्मा का संदेश व्यापक रूप से 'अफवाहों' के जरिए फैला लेकिन उसके पीछे अर्थतंत्र और राजनीति का पूर्ण दर्शन मौजूद था— अच्छा आदमी बनने, शराब, जुआ और हिंसा छोड़ने, चरखा कातने और सांप्रदायिक सद्भाव बनाए रखने की जरूरत। जो कहानियां फैलीं उनमें महात्मा की जादुई ताकत और बात मानने या न मानने वालों को इनाम या सजा देने की क्षमता पर जोर था। दूसरी ओर महात्मा के नाम और उनकी तथामान्य जादुई शक्तियों का उपयोग जातिगत ऊंच-नीच को स्थापित करने और लागू करने, कर्जदारों से भुगतान कराने तथा गोरक्षा आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए भी किया गया। महात्मा के संदेशों की यह तमाम व्याख्या 1922 में चौरी चौरा की घटनाओं के समय चरम पर पहुंच गयी जब पुलिस थाने को जलाने, पुलिस वालों की जान लेने और बाजार लूटने के लिए उनके नाम का इस्तेमाल किया गया। डेविड हार्डीमैन ने अपने कई लेखों में निम्नवर्गीय विषय पर केंद्रित किया और कहा कि चाहे दक्षिण गुजरात का आदिवासी उभार हो, या पूर्वी गुजरात का भील आंदोलन, या सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान खेतिहर मजदूरों की क्रांतिकारिता हो— सबमें कुलीनों के विरोध में निम्न वर्गों की स्वतंत्र राजनीति के दर्शन होते हैं।

इसी तरह सुमित सरकार ने 'द कंडीषन्स ऐंड नेचर आफ सबअल्टर्न मिलिटैन्सी' (एस एस 3) में कहा कि बंगाल में असहयोग आंदोलन 'ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करता है जिसमें जनता नेताओं से आगे निकल जाती है... और लोकप्रिय पहलकदमी ने नेताओं को आंदोलन पर रोक लगा देने की चेतावनी दी'। इस तरह 'निम्नवर्गीय समूहों ने... अपेक्षाकृत स्वायत्त राजनीतिक परिक्षेत्र का निर्माण किया जिसके विशेष लक्षणों और सामूहिक मानसिकता के अध्ययन की जरूरत है और यह दुनिया कुलीन राजनेताओं के परिक्षेत्र से अलग थी। ये कुलीन राजनेता बंगाल में बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ज्यादातर ऊंची जाति के शिक्षित पेशेवर समूहों से आए थे जिनका जुड़ाव जमींदारी या बटाईदारी की मध्यस्थता से था'।

इस तरह हम देखते हैं कि शुरुआती ग्रंथों में प्रकाशित इन या अन्य अनेक लेखों में कुलीन और निम्नवर्गीय परिक्षेत्रों को अलगाने तथा निम्नवर्गीय चेतना और कार्यवाही को स्थापित करने की कोशिश हुई। इस दौर की आम विशेषता निम्नवर्गीय प्रसंगों और स्वायत्त निम्नवर्गीय चेतना पर जोर है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने मजबूती से जोर देकर कहा कि औपनिवेशिक विचारधारा और बुर्जुआ राष्ट्रवादी विचारधारा दोनों ही निम्नवर्गीय परिक्षेत्र पर अपना वर्चस्व कायम करने में असफल रहे। इसके अतिरिक्त भारतीय पूंजीवाद देश के लिए बोलने के अपने प्राथमिक काम में नाकामयाब रहा और कांग्रेसी राष्ट्रवाद पूंजीवादी तथा कुलीन था जिसने लोकप्रिय क्रांतिकारिता पर रोक लगाई।

सबाल्टर्न स्टडीज की परियोजना इतिहास में जनता की आवाज के वकील और एक स्वायत्त निम्नवर्गीय राजनीतिक परिक्षेत्र के प्रचारक के बतौर अपनी शुरुआत के बाद अपेक्षाकृत जल्दी ही महत्वपूर्ण बदलावों से गुजरी। उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर-उपनिवेशवादी प्रभाव के तहत इसके कई लेखकों ने स्वायत्त निम्नवर्गीय चेतना पर इसके जोर पर सवाल उठाना शुरू कर दिया। खासकर गायत्री स्पिवाक ने सबाल्टर्न स्टडीज के भीतर की आरंभिक प्रवृत्ति द्वारा अपनाए गए मानववादी दृष्टिकोण की आलोचना की। एक दूसरे स्तर पर निम्नवर्गीयता के विचार को अधिक व्यापक बनाकर उसमें औपनिवेशिक कुलीनों को भी शामिल कर लिया गया क्योंकि उनके बारे में माना गया कि औपनिवेशिक शासकों के बरक्स वे भी निम्न वर्ग ही थे। इस परिघटना को पार्थ चटर्जी ने 'कुलीन की निम्नवर्गीयता' कहा। चटर्जी की प्रभावशाली किताब *नेषनलिस्ट थाट ऐंड द कोलोनियल वर्ल्ड* (1986) में एडवर्ड

सईद के उत्तर-औपनिवेशिक चिंतन का अनुसरण करते हुए यह माना गया कि औपनिवेशिक ज्ञान-शक्ति सर्वव्यापी और अप्रतिरोध्य थी। उनकी बाद की किताब *द नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेंट्स* (1995) में इस विश्लेषण को और आगे बढ़ाया गया।

धारणा के रूप में निम्नवर्गीयता को भी परिभाषित किया गया। पहले इसका मतलब बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रभुत्वशाली वर्गों के विरुद्ध उत्पीड़ित वर्ग था। बाद में इसे उपनिवेशवाद, आधुनिकता और ज्ञानोदय के विरोध में समझा गया। पहले जो जोर 'निम्न वर्ग' पर था अब उसकी जगह 'समुदाय' की केंद्रीयता ने ले ली। पहले माना जाता था कि कुलीन राष्ट्रवाद ने अपनी परियोजना के हित में जनता की पहलकदमी का हरण कर लिया, अब राष्ट्रवाद की समूची परियोजना को ही औपनिवेशिक विमर्ष का महज एक संस्करण घोषित कर दिया गया क्योंकि उसका जोर आंदोलन के केंद्रीकरण पर और बाद में राज्य पर था।

#### 4.4 कुछ अन्य दृष्टिकोण

हालांकि इकाई 3 और 4 में वर्णित भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्याओं की बात ठीक है लेकिन उनमें सारे दृष्टिकोणों का समाहार नहीं हुआ है। सुगत बोस के अनुसार 'धर्म निरपेक्ष राज्यवादी और निम्नवर्गीय बिखराववादी इतिहासों' के बीच की बहस के पार जाने की जरूरत है। इसका कारण यह है कि जहां 'धर्म निरपेक्ष राज्यवादी इतिहास लेखन धार्मिकतायुक्त राष्ट्रवाद को खासकर मुस्लिम वाले राष्ट्रवाद को किनारे कर देता है और उसे 'सांप्रदायिक' कह देता है वहीं निम्नवर्गीय बिखराववादी लेखन बंगाली हिंदू मध्य वर्ग वाले टुकड़ों को अनावश्यक महत्व देता है और इस प्रक्रिया में इसे लगभग समूचे भारतीय राष्ट्र के बराबर मान लेता है' (बोस 2001: 284, 291-2)। अब हम संक्षेप में दो किताबों की चर्चा करेंगे जिनकी भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्याएं अब तक बताई गई व्याख्याओं से अलग हैं।

सी ए बेली ने अपनी किताब *ओरिजिन्स आफ नेशनैलिटी इन साउथ एशिया* (1998) में कहा है कि भारतीय राष्ट्रवाद पूरी तरह से आधुनिक उत्पाद नहीं था। इसका निर्माण भूभागीयता, नैतिक शासन और सार्वजनिक नैतिकता के बारे में पहले से मौजूद देशी विचारों के आधार पर हुआ। बेली ने क्षेत्रीय देशभक्ति की जड़ों की खोज की है जो उपनिवेशवाद के आगमन के पहले से मौजूद थीं और आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माण में इन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने उन विद्वानों की आलोचना की है जो भारतीय राष्ट्रवाद को मूल तौर पर ऐसा पश्चिमी उत्पाद मानते हैं जिसे उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आंग्ल शिक्षित बौद्धिक समुदाय ने रचा था। उनके अनुसार इस उप महाद्वीप में देशभक्ति की भावनाओं की मौजूदगी पाषाणयुगीन प्रभावों के पहले से थी और 'फ्रांसिसी क्रांति से पहले की... यूरोपीय देशभक्ति से इसकी समानता... भूमि और उन राजनीतिक संस्थाओं से जुड़ाव में खोजी जा सकती है जिनका विकास कुछ क्षेत्रीय भारतीय इलाकों में 1400 से 1800 के बीच तेजी से हुआ था'। ये विचार 'आदर्श नगर, सहभागी राजषाही, परिहासजनित संतुलन और अच्छी सलाह के प्रसंगों' के आसपास विकसित हुए थे। बहुत सारे स्रोतों (जैसे हिंदू नियामक आचार, ग्रीक और इस्लामी स्रोतों, तथा मुगल कुलीनों के तार्किक विचार) पर आधारित ये विचार मूल तौर पर खास इलाकों और भूभागों पर केंद्रित होते थे (बेली 1998: 36)।

हालांकि बेली इस विचार से पूरी तरह असहमत नहीं हैं कि 'आधुनिक भारतीय राष्ट्रवादी संगठन और विचारधारा का बहुलांश सचेतन या अचेतन रूप से पाषाणयुगीन उदाहरणों से निःसृत है खासकर जिस तरह इसका प्रतिबिम्ब राष्ट्रीय संघर्ष के केंद्रीय संगठनों में मिलता है।' बहरहाल उन्होंने जोर देकर कहा कि 'भारतीय राष्ट्रवाद की विशेषताओं को सामाजिक संगठन के भारतीय रूपों और सुषासन की उन विचारधाराओं के संदर्भ में समझना होगा जो पूर्ण पश्चिमी प्रभाव से पहले की हैं' (बेली 1998: v)। उनके अनुसार यह कहना कि भारतीय



राष्ट्रवाद पूरी तरह से औपनिवेशिक समय का उत्पाद है 'इतिहास का भयंकर पूर्वसंक्षेपीकरण है जो राष्ट्रवादी आधुनिकता की हालिया कई आलोचनाओं में निहित है'। उनका कहना है कि ढेर सारे भारतीयों को उनकी मातृभूमि से बांधने वाली देशभक्ति की मजबूत भावना सत्रहवीं सदी से मौजूद रही है। बाहरी आक्रमणों से अपनी मातृभूमि को बचाने के लिए वे सामूहिक कार्यवाही करते रहे हैं। मुगल साम्राज्य के अवसान के समय कई इलाकों में मजबूत राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास हुआ। इन भावनाओं की आरंभिक अभिव्यक्ति कई क्षेत्रों में दिखाई पड़ती है। महाराष्ट्र में 'अपेक्षाकृत एक मजबूत और आम भारतीय देशभक्ति थी जिसमें क्षेत्रीय संस्कृति के प्रति निष्ठा की उदीयमान भावना क्षेत्रीय भाषा और एक अपेक्षाकृत मजबूत राज्य के सृजन के साथ मिल गई'। यह 'ऐसी देशभक्ति थी जिसके साथ भाषा, भक्तिमय धर्म और आर्थिक एकीकरण नत्थी थे' जिसे 'विस्तारित हो रहे राज्य से ऊर्जा मिल रही थी जो राज्य युद्ध और स्मृति के प्रसंगों को बढ़ावा देता था'। राजस्थान और मध्य भारत में मुगलों के प्रतिरोध और राजपूती एकता ने 'राजपूती देशभक्ति की भावना' को जन्म दिया। जाट इलाके में क्षेत्रीय देशभक्ति की स्पष्ट भावना थी क्योंकि इस इलाके की जनता ने अपनी भूभागीय स्वतंत्रता के लिए मुगलों से लड़ाई की थी। दक्षिणी दक्कन के तेलुगु इलाके में 1400 से 1600 के बीच 'तेलुगु नृजातीयता' की मजबूत भावना का उदय हो चुका था। इससे भी दक्षिण में हैदर अली और टीपू सुल्तान द्वारा मैसूरी देशभक्तिपूर्ण अस्मिता की भावना निर्मित की गई थी। बंगाल और तमिलनाडु जैसे अन्य क्षेत्रों में भी समुदाय को परिभाषित करने वाली देशभक्ति की भावना पाई जाती थी। देशभक्ति के ये रूप उपनिवेशवाद-पूर्व जुड़ाव के अन्य रूपों से अलग थे जो धर्म, पंथ, और जाति के इर्द गिर्द निर्मित थे। इन देशभक्तिपूर्ण भावनाओं ने बाद की सुधारवादी और राष्ट्रवादी विचारधाराओं तथा उन्नीसवीं सदी में बनने वाले संगठनों की मदद की।

बेली की तरह रजत राय भी उन सिद्धांतकारों की आलोचना करते हैं जो भारतीय राष्ट्रवाद को पूरी तरह से आधुनिक उत्पाद और यूरोप से आयातित विमर्श से निर्मित मानते हैं। वे उन अनेकानेक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक बंधनों का जिक्र करते हैं जिन्होंने साझा संस्कृति और मानसिकता को जन्म दिया तथा एक 'अनुभूत समुदाय' का निर्माण किया, भारतीयता की वह भावना जो आधुनिक राष्ट्रवाद से बहुत पहले सामने आई थी। इस 'अनुभूत समुदाय' में हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे और यह भावना क्षेत्रीय सीमाओं को लांघ जाती थी। उनका कहना है कि हालांकि प्राक-आधुनिक समय का व्यापक समुदाय का विचार राष्ट्र-राज्य के आधुनिक विचार से अलग था फिर भी एक सांस्कृतिक समुदाय मौजूद था जो क्षेत्रीय, धार्मिक और जातिगत सीमाओं के आर पार निर्मित था। राय जोर देकर कहते हैं कि औपनिवेशिक समय से पहले से व्यापक सामुदायिक और यहां तक कि "राष्ट्रीय" बंधन मौजूद थे। मुगल राज्य के अवशेषों द्वारा अधिकाधिक दावेदारी करने वाली ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रतिरोध बताता है कि पुरानी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को लेकर व्यापक भावना मौजूद थी। इससे भी महत्वपूर्ण बात है औपनिवेशिक शासन के आगमन से ही विभिन्न विद्रोहों की शुरुआत हो गई थी जिनका प्रतिफलन 1857 के विद्रोह में हुआ। इन सबसे पता चलता है कि जनता में एक साझा बंधन और जुड़ाव था तथा एक भूभागीय राज्य के प्रति उनकी निष्ठा थी। उनके अनुसार:

'सामूहिक मानसिकता की अंतःप्रज्ञा के स्तर पर यह चीज एक अर्धवैत अधीन प्रजा का अपने गौरांग प्रभुओं के विरुद्ध हिंसक विरोध था।... बहरहाल विद्रोहियों ने नस्लों के बीच युद्ध की तरह इस संघर्ष को नहीं पेश किया था।... सचेत चिंतन के स्तर पर उन्होंने अंतर्निहित नस्ली युद्ध को सच्चे धर्म और झूठे धर्म के बीच लड़ाई का वैचारिक जामा पहना दिया था। इस देश के धर्मों की संयुक्त बिरादराना अभिव्यक्ति, जहां तक वे उसकी अभिव्यक्ति में सक्षम थे, यह अंतःप्रज्ञापरक बोध था कि देशी अधीन नस्ल गोरे ईसाई शासकों के मुकाबले एक है।'

इस उप महाद्वीप के प्राक-औपनिवेशिक राज्य के रूपों, समाजों और सामाजिक संस्कृतियों में भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता की जड़ों की तलाश पूरी तरह से एक नया परिप्रेक्ष्य है जो भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्यधारा की समझदारी से भिन्न है।

---

#### 4.5 सारांश

---

अन्य देशों के राष्ट्रवाद की तरह ही भारतीय राष्ट्रवाद की भी विविध व्याख्याएं हुई हैं। इकाई 3 और 4 में हमने उन प्रमुख परिप्रेक्ष्यों पर विचार किया जिनके जरिए भारतीय राष्ट्रवाद का अध्ययन हुआ है। इस इकाई में व्याख्या की दो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों—कैम्ब्रिज स्कूल और निम्नवर्गीय अध्ययन पर विचार किया गया। जहाँ कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकार भारतीय राष्ट्रवाद की परिघटना को खारिज करते हैं और निस्वार्थी नेताओं की उपस्थिति पर सवाल उठाते हैं, वहीं सबाल्टर्न इतिहासकार भारतीय राष्ट्रवाद के आधिकारिक आख्यान की आलोचना करते हैं। सबाल्टर्न इतिहासकार इस बात पर जोर देते हैं कि एक लोकप्रिय और सशक्त राष्ट्रवाद मौजूद था जो स्वायत्त और ज्यादा लड़ाकू था बनिस्बत आधिकारिक राष्ट्रवाद के। इन व्याख्याओं के अलावा हमने इस इकाई में एक अन्य व्याख्या की भी चर्चा की है जो पूर्व-औपनिवेशिक भारत में सशक्त राष्ट्रभक्ति की भावना को चिन्हित करती है।

---

#### 4.6 अभ्यास

---

- 1) कैम्ब्रिज स्कूल की भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या पर विचार कीजिए।
- 2) भारतीय राष्ट्रवाद की परिघटना को निम्नवर्गीय इतिहासकारों ने किस तरह से देखा है?
- 3) भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में सी ए बेली और रजत राय के विचारों को संक्षेप में विवेचन कीजिए।

## कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अदीब खालिद, 'बैकवर्डनेस एन्ड द क्वेस्ट फार सिविलाइजेशन,' *स्लाविक रिव्यू*, वाल्यूम 65, नं. 2, 2006.
- अलेव सिनार, 'नेशनल हिस्ट्री एक कनटेस्टेड साइट,' *कम्परेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एन्ड हिस्ट्री*, अप्रैल 2001.
- अली मजरुई (सं.), *अफ्रीका सिन्स 1935*, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993.
- अनिल शील, *द इमर्जेन्स आफ इंडियन नेशनलिज्म*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1938.
- अनिल शील, 'इम्पिरियलिज्म एन्ड नेशनलिज्म इन इंडिया,' *माडर्न एशियन स्टडीज*, वोल्यूम 7, नं. 3, 1973.
- एंथनी स्मिथ, *इथनिक ओरिजिन्स आफ नेशन*, आक्सफर्ड, 1986.
- शेखर बंदोपाध्याय, *नेशनलिस्ट मूवमेन्ट इन इंडिया : ए रीडर*, आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2009.
- बेनेडिक्ट एंडरसन, *इमेजिन्ड कम्युनिटीज*, लंडन : वर्सो, 1983.
- बिपन चंद्र, 'द मेकिंग आफ इंडियन नेशन,' *इंडिका*, मार्च 2004.
- बिपन चंद्र और अन्य, *इंडियाज स्ट्रगल फार इंडिपेन्डेन्स, 1857-1947*, नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स, 1988.
- सी.ए. बेली, *ओरिजिन्स आफ नेशनलिटी इन साउथ एशिया*, दिल्ली : आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998.
- चाल्मर्स जानसन, *पीजेंट नेशनलिज्म एन्ड कम्युनिस्ट पावर*, स्टैन्फर्ड, 1962.
- बिपिन चंद्र, 'नेशनलिस्ट हिस्टोरियन्स इन्टरप्रिटेसन आफ द इंडियन नेशनल मूवमेन्ट,' एस. भट्टाचार्य और रोमिला थापर (सं.), *सिचुएटिंग इंडियन हिस्ट्री*, दिल्ली: आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986.
- एली केदुरी, *नेशनलिज्म*, लंडन, 1960.
- एरिक हाब्सबाम, *नेशन एन्ड नेशनलिज्म सिन्स 1780*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990.
- अर्नेस्ट गेलनर, *नेशन एन्ड नेशनलिज्म*, लंडन, 1983.
- फ्रांज फेनन, *द रेचेड आफ द अर्थ*, न्यूयार्क : ग्रोव प्रेस, 1986.
- जार्ज रीड, 'मिशनरीज एन्ड वेस्ट अफ्रिकन नेशनलिज्म,' *फाइलन*, नं. 39, 1978.
- गोपाल बालाकृष्णन (सं.), *मैपिंग द नेशन*, लंडन, 1996.
- ज्यां कामारोफ और जान कामारोफ, 'क्रिश्चियानिटी एन्ड कोलोनियलिज्म इन साउथ अफ्रीका,' *अमेरिकन इथनोलोजिस्ट*, वोल्यूम 13, नं. 1, 1986.
- जन हचिंसन और एंथनी डी. स्मिथ (सं.), *नेशनलिज्म*, आक्सफर्ड, 1994.
- कैम लुई (सं.), *द कैम्ब्रिज कम्पेनियन टू माडर्न चाइनीज कल्चर*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2008.

## प्रस्तावना

- लार्ड हेली, 'नेषनलिज्म इन अफ्रीका,' *जर्नल आफ रायल अफ्रिकन सोसायटी*, अप्रैल, 1937.
- एम. लीफर (सं.), *एषियन नेशनलिज्म*, लंडन, 2000.
- मुषीरूल हसन (सं.), *इंडियाज पार्टिषन*, दिल्ली : आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993.
- पी. दुइगनन और एल.एच.गन (सं.), *कोलोनियलिज्म इन अफ्रीका*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973.
- पार्थ चटर्जी, *द नेशन एन्ड इटस फ्रेगमेंट्स*, दिल्ली : आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993.
- रषीद खलिदी, 'अरब नेशनलिज्म,' *द अमेरिकन हिस्टारिकल रिव्यू*, वोल्यूम 96, नं. 5, 1991.
- रजत राय, 'थ्री इंटरप्रिटेन्स आफ इंडियन नेशनलिज्म,' बी.आर. नंदा (सं.), *एसेज इन माडर्न इंडियन हिस्ट्री*, नई दिल्ली, आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1983.
- शशिभूषण उपाध्याय, *हिस्टोरियोग्राफी इन द माडर्न वर्ल्ड*, नई दिल्ली : आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2016
- स्टीन टानेसन और हैन्स अंतलोव (सं.), *एषियन फार्म्स आफ द नेशन*, कर्जन प्रेस, 1996.
- स्टीफन हो (सं.), *द न्यू इम्पिरियल हिस्ट्री रीडर*, रूतलेज, 2010.
- सुमित सरकार, *स्वदेशी मूवमेन्ट इन बंगाल*, नई दिल्ली : पीपल पब्लिशिंग हाउस, 1973.
- उमुट ओजकिरिमलु, *थियरिज आफ नेशनलिज्म*, लंडन, 2000.